लॉगमेन्स, ग्रीन एण्ड कं., न्यू यार्क,
यू. एस. ए. की स्वीकृति से भारत में प्रकाशित।
मूल ग्रंथ का प्रथम हिंदी अनुवाद।

विश्वसनीय सहयोगी एवं मित्र, अपनी पत्नी को,
अपने सम्मान, प्रशंसा एवं स्नेह के साथ।

—लेखक

प्रथम संस्करण १९५८

प्रकाशक : जी. एल. मीरचंदानी, पर्ल पब्लिकेशन्स प्राइवेट लिमिटेड, १२, वाटरलू मेन्शन्स (रीगल सिनेमा के सामने), महात्मा गांधी रोड, बम्बई १
मुद्रक : वि. पु. भागवत, मौज प्रिन्टिंग ब्यूरो, खटाववाडी, गिरगांव, बम्बई ४

प्रथम पुस्तक

विधि

अध्याय—१

(क) ब्रह्मांड के सम्बन्ध में हमारी धारणा।
(ख) हमारी विश्व-सम्बन्धी धारणा की सापेक्षता।
(ग) 'कारण' की मान्यता।
(घ) निरीक्षण-विधि।

मानव-ज्ञान के अन्ततोगत्वा दो मार्ग हैं। प्रथम मार्ग आत्मानुभूति का है जो स्वतंत्र आत्मचिन्तन का सीधा-सादा मार्ग है। लेकिन अधिकांश लोगों के लिए यह बन्द है। जो इसका लाभ उठा सकते हैं वे अवश्य ही सौभाग्यशाली हैं। इसके विपरीत दूसरा मार्ग नितान्त बौद्धिक एवं वैज्ञानिक है। यह मानव को विश्व का अंग समझता है और इसे विश्व के एक कार्य के रूप में ही अध्ययन करता है। इस मार्ग को जानने के लिए हमें मानव-मस्तिष्क द्वारा अनुभूत एवं कल्पित जगत के निरूपण करने की आवश्यकता होगी। और यदि यह निरूपण व्यापक होता है तो निश्चय ही मानव को उसमें अपना उचित स्थान मिलता है। इस प्रकार यह निरूपण हमें मानव का उचित स्थान निर्धारित करने में सहायक होगा। दुर्भाग्यवश, हमें यह स्वीकार कर लेना पड़ता है कि विश्व का यह निरूपण अथवा चित्र मानव मस्तिष्क की उपज है, जो स्वयं ही मस्तिष्क की रचना, बाह्य जगत से सम्पर्क स्थापित करने वाले ज्ञान-तन्तुओं की रचना तथा उस तार्किक प्रक्रिया पर आश्रित रहती है, जो हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान की व्याख्या का मौलिक आधार है।

आगे बढ़ने के पूर्व कुछ इसके स्पष्टीकरण की आवश्यकता होगी; क्योंकि संभवतः पाठकगण इन विचारों से परिचित नहीं होंगे।

प्रस्तावना

यह पुस्तक सीधी-सादी शैली में लिखी गयी है और जहाँ तक संभव हो सका है, पारिभाषिक शब्दों को बचाया गया है। फिर भी विचारों की स्पष्टता का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है, जिससे यह शिक्षित नर-नारी के लिए सुलभ हो सके।

चूँकि इसमें नये विचारों और नयी व्याख्याओं को रखा गया है और विचारों की प्रमुखता है, अतः सम्भव है पाठक को विशेष ध्यानपूर्वक इसका अध्ययन करना पड़े। पाठक को धीमी रफ्तार में पढ़ने और कभी-कभी किसी अंश को दुबारा पढ़ने की आवश्यकता पड सकती है। वैसे इसमें ऐसी कोई बात नहीं जिसे एक बुद्धिमान व्यक्ति प्रयत्न करने पर न समझ सके।

जिस प्रकार भोजन बिना अच्छी तरह चबाये नहीं पच सकता, उसी प्रकार विचार भी बिना अच्छी तरह समझे और मनन किये ग्रहण नहीं किये जा सकते। लेखक ने स्पष्टता लाने का भरसक प्रयत्न किया है, फिर भी स्पष्ट निर्देशन के बावजूद भी उन विचारों को कोई केवल पढ़ने मात्र से ग्रहण नहीं कर सकता। हमारा पाठकों से अनुरोध है कि वे उन अपरिचित विचारों को विश्लेषण एवं संश्लेषण पद्धति द्वारा समझने का प्रयास करें।

आज समस्याएँ इतनी जटिल हो चुकी हैं कि ऊपरी छिछला ज्ञान जनसाधारण के लिए उन समस्याओं को समझने में कोई सहायता नहीं करता, उन पर विचार-विमर्श करना तो बहुत दूर की बात है। इसका उपयोग सत्य को तोड़ने-मरोड़ने और जनसाधारण को गुमराह करने में प्रायः काम में लाया जाता है। अब वह समय आ गया है जब कि सदिच्छा और सद्‌विश्वास वाले श्रेष्ठ जनों को सजगतापूर्वक जीवन में अपने कर्तव्यों का पालन करना है।

किसी देश या समाज के भविष्य के लिए प्रत्येक व्यक्ति उत्तरदायी है, लेकिन यह उत्तरदायित्व तब ही रचनात्मक रूप से कोई ले सकता है जबकि लोग अपने जीवन का अर्थ और सघर्ष का पूरा अर्थ समझें तथा मानव के भविष्य में श्रद्धा रखें।

इस पुस्तक का उद्देश्य मनुष्य की मानवता के प्रति इस आस्था को वैज्ञानिक आधार पर सिद्ध करना है। लेखक आशा करता है कि पाठक अपने परिश्रम के फलस्वरूप युगों की महत्त्वपूर्ण समस्याओं के सम्बन्ध में एक स्पष्ट दृष्टिकोण पायेंगे।

टी-ला-वोकेट रांच, कलरडो, १९४५
ला कुइन्टा, अल्टेडना, केलिफोर्निया, १९४६

पी. एल. एन.

1546

विषय-सूची

युग	समय	काल	जीव	अवधि	
प्राचीन युग	जल एवं थलचर जीवों का समय	प्राचीन जीवाश्म अंगार प्रस्तर	सींगधारी प्राणी—फनाकार प्राणी छद्मशीर्ष—नेचा वर्ग प्रथम सरीसृप वर्ग के प्राणी	२½ करोड़ वर्ष ८½ करोड़ वर्ष	३६ करोड़ वर्ष
	मछलियों का समय	डेव्होनियन	प्रथम नेचा वर्ग—कीटवर्ग मत्स्य वर्ग	५ करोड़ वर्ष	
जीवनारम्भ (प्रारम्भिक)	रीढ़विहीन जीवों का समय	सिल्युरियन	प्रथम मत्स्य वर्ग—समुद्री वनस्पति	१२ करोड़ वर्ष	
		केम्ब्रियन	कर्क वर्ग—त्रिपालिका वर्ग	७ करोड़ वर्ष	
आदि युग	अलौकिक सूक्ष्म जीवों का समय	प्रा—केम्ब्रियन	कृमि—कर्क वर्ग के प्राणी—संधिपाद प्राणी वर्ग बैक्ट्रिया—सूक्ष्म जीव वर्ग	डब्ल्यू. ए. पार्क, एफ. आर. एस. सी. के. आधार पर : लगभग ८० करोड़ वर्ष पूर्व	१२० करोड़ वर्ष
	प्राचीनतम समय		कोयले के रूप मे जीवन का अस्तित्व	इसमें सभी अंक अनुमानित हैं और स्वीकृत आधुनिक शोध पर हैं	

पृथ्वी पर जीवन की आयु

युग	आयु	काल		अनुमानित समय	
भूतत्वीय अवस्था का ४ था युग	(चतुर्थ) | (तृतीय) स्तन-धारी जीवों का समय	अर्वाचीन		१० लाख वर्ष	५ करोड़ ४० लाख वर्ष
		हिम काल	प्रथम मानव		
		नव नूतन	हाथी–गेंडा–हिरन	६० लाख वर्ष	
		नव पूर्व	प्राचीन हाथी	१ करोड़ २० लाख वर्ष	
		नव पूर्वोत्तर	प्राचीन पशु जाति	१ करोड़ ६० लाख वर्ष	
		नव प्रभाव	गर्भनाल वेष्टित स्तनधारी प्राणी	२ करोड़ वर्ष	
एक एवं अनेक अणुवाले जीवों के मध्य का युग	(द्वितीय) सरीसृप जीवों का समय	खटिकामय	फूलों से युक्त वनस्पति–भीमकाय प्राणी प्रथम सर्प–विभिन्न कीट	४ करोड़ वर्ष	१३½ करोड़ वर्ष
		जुरीन	तैरने और उड़नेवाले भीमकाय प्राणी–सरीसृप –समान प्रथम पक्षी–(ऋतुओं का अभाव)	६ करोड़ वर्ष	
		त्रिस्तर	सरीसृप–भीमकाय प्राणी–कछुवे–मगर– प्रथम स्तनधारी–(कांगरू)	३½ करोड़ वर्ष	

परिचय

मानव-जाति ने अभी अपने इतिहास के घोर अन्धकारमय युगों में से एक को पार किया है। वह सबसे अधिक दुःखांत भी साबित हो सकता है, क्योंकि संघर्ष संसार के कोने-कोने प्रवेश पा चुका है। मनुष्य को अपनी जिस सभ्यता पर इतना गर्व था, उसकी दृढ़ता और स्थिरता की कल्पना को अभूतपूर्व हिंसा ने नष्ट कर दिया है।

प्रथम महायुद्ध के बाद से ही प्रायः सभी पश्चिमी देशो में एक अशान्ति फैल चुकी थी। यह कोई नयी घटना नहीं थी, बल्कि विगत ५० वर्षों में यान्त्रिक प्रगति द्वारा मानव-चेतना को दी गयी चुनौती के फलस्वरूप एक जागृति थी।

सभ्यता के भौतिक पक्ष के द्रुतविकास ने मनुष्यों की रुचि को उत्पन्न किया और उसे प्रत्येक आगामी चमत्कार के लिए निरंतर आशावादी बनाये रखा। अतः मानवीय समस्याओं को, जो वास्तविक समस्याएँ थीं, सुलझाने का बहुत ही थोड़ा समय मिल सका। १८८० के बाद से ही एक-के-बाद एक होनेवाले नये आविष्कारों की चकाचौंध से लोग सम्मोहित हो उठे। उनकी हालत उन बच्चों के समान हो गयी जो पहली बार ही सर्कस के कमाल देखकर खानापीना तक भूल जाते हैं।

ये अद्भुत घटनाएँ वास्तविकता की प्रतीक बन गयीं; और, नये नक्षत्र की चकाचौंध में क्षीण पड़ जाने वाले नक्षत्रों के समान जीवन के वास्तविक मूल्यो का रूप गौण हो गया। यह परिवर्तन अनायास ही तथा बिना किसी कष्ट के हुआ, क्योंकि उन्नीसवीं शताब्दी के दार्शनिकों और वैज्ञानिकों ने, बिना कोई उत्तर दिये अनेक प्रश्न खड़े कर के, विचारशील जनता के मस्तिष्क को पहले से ही इस बात के लिए तैयार कर दिया था।

बहुत से लोग इस संकट को पहले से ही समझ गये थे। उन्होंने चेतावनी भी दी, लेकिन किसी ने उस पर ध्यान नहीं दिया। इस असफलता का कारण था, जनसाधारण में उत्पन्न आधुनिकता के प्रति आकर्षण और नवीन आश्चर्यों के प्रति विश्वास। दूसरी ओर विवेकशील मस्तिष्को के पास मुख्यतः परम्परागत तर्क थे। विश्व मे नित्य नव परिवर्तन हो रहा था। प्रत्येक नया प्रात पहले की अपेक्षा अप्रत्याशित चमक-दमक लिए आता था। जिस समय लोग विज्ञान के आविष्कारों की प्रशंसा कर रहे थे, जो कालान्तर में वास्तविक विश्वास में बदल गयी, तब बुद्धिमान लोग श्रद्धापूर्वक अपने पुराने तर्कों से संघर्ष करने में लगे थे। उन्होंने चेतना की जागृति के लिए अपील कीं, जिनकी ओर लोगों का

बिल्कुल ध्यान नहीं गया। बहुतों ने उन्हें व्यर्थ की दकियानूसी बातें समझीं।

चर्चों ने बहुत प्रयत्न किया, लेकिन उनके उपदेशों में कोई बल न था सका। परिणाम इतना सफल न हो सका, जो समाजव्यापी नैतिक पतन, अश्रद्धा और अशान्तता की रोकथाम करता। यह सम्भव न था। अनिवार्य शिक्षा ने व्यक्तियों की प्रतिभा में नये मार्गों एवं दृष्टिकोणों की स्थापना की। बिना अधिक बुद्धि और प्रतिभा के ही मनुष्यों ने बौद्धिक विचारों की युक्तियों का उपयोग सीख लिया। उन्हें एक बहकाने वाला उपकरण, एक नया खिलौना मिल गया था, जिसके नियंत्रण और उपयोग पर सभी को भ्रमपूर्ण विश्वास था। इस उपकरण ने सनसनीपूर्ण परिणाम दिये, जिन्होंने क्रमशः लोगों के भौतिक जीवन को ही बदल दिया और असीमित आशाएँ दे दीं। यह स्वाभाविक था कि धर्माचार्यों को मिलने वाला सन्मान शनैः-शनैः उन लोगों को मिलने लगा, जिन्होंने प्राकृतिक शक्तियों पर विजय पायी और उसके गूढ़ रहस्यों को खोलने में समर्थ हुए।

इस प्रकार भौतिकवाद केवल शिल्पज्ञों में नहीं, बल्कि जनसाधारण में भी फैला, और यह दुख की बात थी। बुद्धि और तर्क की इस बीमारी को बौद्धिक चिन्तन से दूर किया जा सकता था। गणित के तर्क को केवल एक अन्य गणित के तर्क से पराजित किया जा सकता है। वैज्ञानिक तर्क को उसी क्षेत्र के तर्क से नष्ट किया जा सकता है। अगर एक वकील यह साबित करना चाहता है कि आप गलत हैं, तो आपका केवल भावनात्मक ढंग से तर्क करना व्यर्थ है। उसका समाधान तभी हो सकता है यदि आप दूसरे नियमों द्वारा उसके तर्क को काट सकें। आप सच्चे हैं, और इसलिए आपकी जीत होनी ही चाहिए—यह बात अर्थहीन है। भावनात्मक अथवा मनोवैज्ञानिक बातों से उनकी आपत्तियों को समाप्त करना उसी प्रकार असम्भव है, जैसा कि गलत चाबी से दरवाजा खोलना। सत्यानाशी भौतिकवाद, जैसा कि हमारा विश्वास है, प्रकृति की वैज्ञानिक व्याख्या का अवश्यम्भावी परिणाम नहीं और यदि हम उसे नष्ट करना चाहते हैं, तो हमें सही चाबी का उपयोग करना चाहिए। इसलिए हमें दुश्मन पर उसी के अस्त्र से उसी की भूमि पर आक्रमण करना होगा। यदि हम भौतिकवादी को, उसके गलत विश्वास अथवा उसकी नकारात्मक श्रद्धा के कारण, समझाने में अयोग्य होते हैं, तो एक ईमानदार और निरपेक्ष दर्शक, जो स्वयं ही संघर्ष के प्रति उथला दृष्टिकोण रखता है, उसे ही विजयी समझेगा।

दूसरे शब्दों में, आजकल हम भावनात्मक अथवा परम्परागत उन तर्कों से जो भूतकाल में जनसाधारण की अज्ञानता के कारण उत्पन्न हुए थे, भौतिकवाद को

नहीं खत्म कर सकते। हम घुड़सवार सेना से टैंकों का, और तीर-कमान से हवाई जहाजों का सामना नहीं कर सकते। विज्ञान का उपयोग धर्म की जड़ उखाड़ने में किया गया। विज्ञान ही को उसकी जड़ें मजबूत करनी चाहिए। विगत पाँचसौ वर्षों में संसार बहुत अधिक विकसित हो चुका है। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए हमें नवीन वातावरण के अनुरूप अपने स्वयं को बनाना है। अब हमें न्यूयार्क से सेनफ्रान्सिस्को जाने के लिए बन्द घोड़ा-गाड़ी में यात्रा नहीं करनी पड़ती, और न ही हम जादूटोनों में विश्वास करते हैं, जैसा कि सत्रहवीं शताब्दी में प्रचालित था। अब हम छूत की बीमारियों की चिकित्सा मे सिंगी द्वारा रक्त नहीं निकालते। लेकिन मानव-समाज के ऊपर लटकते हुए उस भयंकरतम खतरे का सामना हम अब तक उन्हीं दो हजार वर्ष पूर्व के अस्त्रो से करते हैं। और हम इस बात को महसूस नहीं करते कि बड़ी संख्या में और भी अधिक शक्तिशाली शस्त्र हमारी पहुँच की सीमा में हैं, जो तुरन्त तो नहीं, लेकिन निश्चित रूप से विजय का आश्वासन देते हैं।

इस पुस्तक का उद्देश्य मनुष्य द्वारा एकत्र किये हुए वैज्ञानिक ज्ञान-भंडार की समीक्षा करते हुए उससे तार्किक एवं बौद्धिक परिणाम निकालना है। हम देखेंगे कि ये परिणाम किस प्रकार ईश्वर के अस्तित्व की पुष्टि करते हैं।

इसलिए यह पुस्तक उन लोगो की सहायता नहीं करेगी जो भगवान पर विश्वास करते हैं। हाँ, यह उन्हें नवीन वैज्ञानिक तर्क देगी जिनका वे उपयोग कर सकते हैं। मुख्यतः यह उन लोगों के लिए है जो अपने जीवन में वाद-विवाद के दौरान में, अथवा अनुभवों में, अपने मस्तिष्क में, कुछ शकाओं, को उठती हुई पाते हैं। यह उन लोगों के लिए है जो अपने बौद्धिक जीवन और आध्यात्मिक, धार्मिक अथवा भावात्मक जीवन के बीच सघर्ष पाते हैं। यह पुस्तक उन लोगों के लिए हैं जिन्होंने उच्च आत्मानुभूति को मानव-जीवन का उद्देश्य समझा है, और समस्त मानवीय गुणों के सयोग से पूर्णता को प्राप्त करना चाहते हैं, जो अपने परिश्रम और फल का अर्थ जानते हैं। यह उन लोगों के लिए है जो अपने प्रयासों को आध्यात्मिक स्तर पर पूर्ण करना चाहते हैं और कुछ हद तक इसमें सहयोग करने के लिए उत्सुक हैं। यह उन लोगों के लिए है जिनका मानव की श्रेष्ठता और विश्व मे मनुष्य के उद्देश्य पर विश्वास है। और यह उनके लिए है, जो विश्वास तो नहीं करते, पर अपनी शंकाओं के समाधान के लिए उत्सुक हैं।

इस सब को प्राप्त करने के लिए हम सर्वप्रथम, मानव-मस्तिष्क की प्रक्रिया

का अध्ययन करेंगे, जिससे हम अपनी और भौतिकवादियों की धारणाओं, तर्कों का उचित मूल्य स्थिर कर सकें। कुछ भौतिकवादी तो ईमानदार हैं और अपने मस्तिष्क की प्रक्रिया में साधारण विश्वास रखते हैं, लेकिन दूसरे इतने ईमानदार नहीं हैं और चाहते हैं कि जनसाधारण को उस वैज्ञानिक रंगमंच पर कदापि न लाया जाय, जहाँ वे कपड़े पर बने हुए रंगबिरंगे प्राकृतिक दृश्यों की तरह बनावटीपन अनुभव करें। वे प्रायः जटिलता और विरोधाभासों को बचाने का प्रयत्न करते हैं। कभी-कभी वे स्वयं भी उन्हें नहीं समझते। अवश्य ही प्रयोगशाला में काम करनेवालों की अपेक्षा विज्ञान के दार्शनिक ही व्याख्याओं की कठिनता, अन्तर और सिद्धान्तों की अन्यापेक्षा की ओर इशारा कर सकते हैं। दुर्भाग्यवश ऐसे व्यक्ति गिने-चुने हैं, और उनकी भाषा जटिलता के कारण प्रायः शिक्षित जन-समाज की भी पहुँच के बाहर हो जाती है।

हमारी राय में यह आवश्यक है कि जनसाधारण आधुनिक वैज्ञानिक एवं दार्शनिक विचारों से कुछ परिचित हों, जिससे कि वे उसका उपयोग भौतिकवादी वैज्ञानिकों के तर्कों से गुमराह और प्रभावित होने से अपने को बचाने में कर सकें। ये वैज्ञानिक ईमानदार होते हुए भी भूलों से मुक्त नहीं होते।

हम आशा करते हैं कि पाठक यदि मनुष्य के भाग्य में रुचि रखते हैं, तो समझेंगे कि वे इस प्रश्न को उस समय तक नहीं हल कर सकते, जब तक कि मनुष्य के विचारों के साथ जुड़ी हुई कमजोरियों को वे न समझ लें। जब वैज्ञानिक अपनी मान्यताओं की जाँच के उद्देश्य से मापतोल करता है, जब खगोल-शास्त्री नक्षत्रों की स्थिति की परीक्षा करते हैं, तब वे निश्चित रूप से अपने यंत्रों की कार्य कुशलता जानते हैं और उस सूक्ष्म भूल का भी, जो उनके निरीक्षण में होती है, वे ध्यान रखते हैं। सभी विज्ञानों में गणना-प्रणाली की भूल एक महत्त्वपूर्ण भूल होती है। हमारी समस्या है—मनुष्य; और उसे समझने के लिए जिस यंत्र का उपयोग होता है वह है—मस्तिष्क। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि समस्या का समाधान पाने के पूर्व हम अपने यन्त्र की सीमाओं को समझ लें। हम देखेंगे कि इस खोज में उन गम्भीर कमजोरियों का पता लगेगा जो भौतिकवादियों के वैज्ञानिक एवं गणित-सम्बन्धी तर्कों में पायी जाती हैं। ये कमजोरियाँ इतनी गम्भीर हैं कि ज्ञान के क्षेत्र में उनके तर्कों का वैज्ञानिक मूल्य ही समाप्त हो जाता है।

इसके बाद हम विश्व में मनुष्य की स्थिति को समझेंगे, जिसके लिए हमें विकासवाद का अध्ययन करना होगा। इसमें हम उन मान्यताओं की समीक्षा

करेंगे, जो मानव-विकास को इतर सामान्य विकास से जोड़ती हैं और इस प्रकार हम तर्कसिद्ध परिणामों को विकासित करेंगे।

लेखक का लक्ष्य मुख्यतः मानव है। उसका विश्वास है कि आधुनिक अशान्ति का उद्गम वह बुद्धि है, जिसने मनुष्य से उन समस्त तर्कों को विज्ञान के नाम पर—जो अब भी शैशवावस्था में हैं—छीन कर, उन सिद्धांतो को नष्ट कर दिया है, जो अब तक व्यक्तिगत जीवन को स्पष्ट करते थे, जो प्रयास की प्रेरणा देते थे और प्राप्त करने के लिए एक आदर्श सामने प्रस्तुत करते थे। उनका संयुक्त रूप था—धर्म।

स्वतंत्र इच्छा के निषेध तथा नैतिक उत्तरदायित्वों के निषेध से व्यक्ति केवल भौतिक-रासायनिक इकाई के रूप में इतर प्राणियों से अभिन्न जीवित जग का अंगमात्र बन गया, जिसके फलस्वरूप उसकी आध्यात्मिक मृत्यु हुई; आध्यात्मिकता तथा आशा का शमन हुआ और इसके साथ ही उसमें हतोत्साहित करने वाली अर्थपूर्ण निरर्थकता की भावना आ गयी।

अब तो जिन विशेषताओं से मनुष्य *मनुष्य* कहलाता है—वे हैं उसके अमूर्त विचार, नैतिक विचार, तथा आध्यात्मिक विचार। इन्हीं के होने से वह अपने पर अभिमान कर सकता है। ये विचार उसके शरीर के समान ही सत्य हैं, और इन्होंने मनुष्य को महत्त्वपूर्ण बना दिया है। इनके अस्तित्व के बिना मनुष्य *मनुष्य* नहीं रहता।

इसलिए यदि हम जीवन को एक अर्थ देना चाहते हैं तथा जीने का कारण देना चाहते हैं, तो हमें चाहिए कि हम इन विचारों की वैज्ञानिक और बौद्धिक व्याख्या करें। हमारी राय में यह तभी हो सकता है जबकि हम इन्हें विकास से सम्बन्धित कर दें और इन्हें उसी प्रकार विकास के अंग मानें, जैसे कि नेत्र, हाथ, वाक्शक्ति इत्यादि। यह स्पष्ट होना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक कर्तव्य है, इस बात की उसे स्वतन्त्रता है कि वह अपना कर्तव्य पूरा करे या न करे तथा वह एक शृंखला की एक कड़ी है, प्रवाह में बहता हुआ घास का तिनका नहीं है। संक्षेप में, मानव का गौरव केवल निरर्थक शब्द नहीं है, और जब मनुष्य इसे नहीं समझता तथा इसे पाने के लिए प्रयास नहीं करता तो वह अपने को पशुओं के स्तर पर गिरा देता है।

उक्त विचारों को लेखक ने आगामी पृष्ठों में वर्तमान वैज्ञानिक ज्ञान के आलोक में प्रकाशित किया है।

इस मिथ्यावाद को विज्ञान एवं दर्शन में निरंतर प्रयुक्त की जानेवाली ठोस तर्क-प्रणाली से अलग कर लेना सरल काम नहीं है,। यही है—हेत्वाभास न्याय (syllogism)।

चूँकि प्रकृति को जानने और वर्णन करने के लिए हमारे पास ज्ञानेन्द्रियों, हमारे तर्क-केन्द्र अर्थात मस्तिष्क के तन्तुओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, अतः हमें अपनी मानसिक अनुभूतियों के सम्बन्ध में पूर्णतः सतर्क रहना तथा मानव के प्रति उनकी सापेक्षता को कभी न भूलना चाहिए।

मानव-विज्ञान घटनाओं के भौतिक अध्ययन पर टिका है। हम इन घटनाओं को नियमों द्वारा जोड़ते हैं अर्थात उनके परस्पर गुणात्मक एवं मात्रात्मक सम्बन्धों की स्थापना करते हैं, पर अपने रूप में प्रतीत होने वाली ये घटनाएँ तो हमारे मस्तिष्क में ही रहती हैं, जिनमें से प्रत्येक का अपना कारण होता है। वास्तविक कारण और इन कारणों के सम्बन्धों को हम नहीं जान पाते।

ऊपर हमने 'कारण' शब्द का प्रयोग किया है। यह शब्द भी उन शब्दों में से एक है, जिन्हें प्रत्येक आदमी समझने का दावा कर सकता है, फिर भी कई प्रश्न पैदा हो जाते हैं। अगर हम सामान्य बुद्धि से—जिससे हम सतर्क रहें—विचार करें तो यह प्रश्न और भी जटिल बन जाता है। आश्चर्य की बात है कि इस 'सरल प्रश्न' का स्पष्टीकरण ही कितना मुश्किल है। प्रथम तो प्रत्येक घटना के एक अथवा अनेक कारण दिखाई पड़ते हैं। बन्दूक की गोली को ही लें:—क्या गोली छूटने का कारण टोपी पर चोट पड़ना माना जायगा, या सिपाही के हाथ की उँगलियाँ, जिसने खटका दबाया था, अथवा 'कारण' बारूद में केवल आग लगना मात्र था? लेकिन हाथ की गति के अभाव में बारूद शताब्दियों तक ज्यों-की-त्यों पड़ी रहती। और भी, हाथ की गति का स्थान कोई दूसरी विधि भी ले सकती थी और टोपी के अन्दर तनिक इशारे मात्र से ही विस्फोट पैदा हो सकता था, जैसे कि प्रकाश की किरणों-द्वारा। इन प्रकाश-किरणों को दूरवीक्षण यन्त्र के द्वारा किसी भी दूरस्थ नक्षत्र से लिया जा सकता था; और फिर इसे विस्तृत कर के कई मन भारी इस्तपात के गोले को ३० मील की दूरी पर फेंका जा सकता था। चिकागो शहर के १९३२ के विस्फोट का कारण ४० वर्ष पूर्व उत्पन्न आर्कटूरस नामक नक्षत्र की हल्की किरण मात्र थी। जहाँ तक बन्दूक की गोली का सम्बन्ध है, किसी नक्षत्र को नुकसान का उत्तरदायी ठहराना मूर्खता होगी, फिर भी स्पष्ट है कि बहुत समय पूर्व उत्पन्न प्रकाश-किरण बारूद में विस्फोट करने में कितना महत्त्वपूर्ण भाग ले सकती है।

हम यह भी नहीं कह सकते कि इस नुक्सान के लिए वह बारूद बनानेवाला मजदूर, या केमिकल इंजीनियर जिसने बारूद का आविष्कार किया, या कारखाने-वाला, या धन लगानेवाला पूंजीपति, या उसके माता पिता अथवा उसके दादा-परदादा उत्तरदायी हैं; फिर भी इनमें से प्रत्येक व्यक्ति, जिसने बन्दूक या बारूद को बनाने में भाग लिया है—किसी-न-किसी अंश में उत्तरदायी है। और उसका यह उत्तरदायित्व जैसे-जैसे हम पीछे की ओर लौटते हैं—विश्व के उद्गम की ओर-वैसे वैसे समाप्त होता चलता है।

इस प्रकार हम अनायास ही मूल अथवा 'प्रथम कारण' पर आ पहुँचते हैं; और फिर समस्या भौतिक जगत् की न रहकर दार्शनिक एवं धार्मिक जगत् की बन जाती है। जैसा कि हम देख चुके हैं कि हमें उन मनोवैज्ञानिक कारणों—प्रवृत्ति—को भी लेना चाहिए, जिनके कारण तोप, बारूद और गोले का निर्माण हुआ। इस तरह 'कारण' की खोज करते हुए हम भौतिक जगत् से निकलकर अभौतिक जगत् में न जा पहुँचे—इसे बचाना तो असम्भव है। क्योंकि उसके बिना न तो गोला होगा, न तोप होगी, न विस्फोट होगा, न चलानेवाला होगा और न वह निरतर सहयोग ही होगा जिससे कि निशाना लगाया जाता है। 'कारण वाद' (causality) को हमें भौतिक दृष्टिकोण से हटाकर अपने पूर्ववत् स्थान पर लाना पड़ता है। प्रत्येक घटना, कार्य एवं विचार, अपने बाद की दूसरी घटना का कारण समझा जा सकता है। व्यावहारिक तौर पर यह केवल काल-क्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं ठहरता—यद्यपि यह कालक्रम पूर्णतः संतोषजनक नहीं है, जिसका अपना निजी महत्त्व हो अथवा जिसे हम 'कारण' की सज्ञा दे सके।

इस प्रकार यदि समस्त विश्व के निर्माण की बात छोड़ दी जाय, तो भी जहाँ मनुष्य का आगमन होता है, वहाँ उसके उद्देश्य, इच्छा को प्रमुख कारण मानना आवश्यक हो जाता है। लेकिन स्वयं यह कारण भी अनेकों निरंतर कारण-शृंखलाओं का परिणाम है, जिसमें पड़कर कारण शब्द अपना महत्त्व ही खो बैठता है। जब हम किसी दीर्घ-काल पर विचार करने लगते हैं, तब तो यह और भी स्पष्ट हो जाता है। यदि हम अपनी गति की अपेक्षा अत्यधिक मन्द गति की घटनाओं को लें, जो भौगोलिक कालान्तर से घटित होती हैं, तो हम वहाँ मुख्य कारण इच्छा को तब तक नहीं पा सकते, जब तक हम विज्ञान के क्षेत्र से हटकर धार्मिक क्षेत्र में प्रवेश न करें। इसीलिए तो भौतिकवादी 'कारण' से हटकर संयोग (chance) पर आ टिकते हैं। हम देखेंगे कि यह मान्यता

उक्त मौलिक सत्य पहले-पहल प्रतिभासम्पन्न स्वीडनवासी वैज्ञानिक प्रोफेसर चार्ल्स यूजेन गी (Prof. Charles Eugenne Guye) ने स्पष्ट किया था। उनकी मृत्यु १९४२ में हुई। उनकी यह मान्यता अनेक तथ्यों को समझने और गम्भीर दार्शनिक भूलों को दूर करने में सहायक होगी। इस पुस्तक में हम ऊपर से दीखने वाले विरोधाभासों को स्पष्ट करने में इस निर्देशन-व्यवस्था की मान्यता का उपयोग करेंगे।

अध्याय—२

(क) वैज्ञानिक चिन्तन।
(ख) विज्ञान का उद्देश्य।
(ग) विज्ञान के नियम।
(घ) हमारे विज्ञान में अनिरंतरता (Discontinuity) एवं अपरिवर्तनीयता (Irreversibility)।
(ङ) विश्लेषण।
(च) मानवकृत विभाजन।
(छ) वैज्ञानिक नियमों का ढाचा।
(ज) प्रायिकताएँ।

मानव-मस्तिष्क के कारण उत्पन्न होनेवाली कुछ त्रुटियों से पाठकों को सचेत कर दिया गया है।

अब हम मस्तिष्क द्वारा प्रयुक्त विश्व को समझने और भावी घटनाओं को देखने की विधि की परीक्षा कर सकते हैं। यह आवश्यक भी है, क्योंकि हम अपने तर्क, वैज्ञानिक और गणित की पद्धति पर, यह प्रमाणित करने के लिए आधारित करेंगे, कि ये दोनो जीवन की व्याख्या करने के लिए किसी श्रेष्ठतम अलौकिक शक्ति के अस्तित्व का समर्थन करते हैं।

मनुष्य के भविष्य में हमारी रुचि है, क्योंकि समस्त प्राणियों से केवल वही प्रकृति का निरीक्षण करने, प्रयोग करने तथा नियमों और घटनाओं में सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ है। साथ ही वह स्वयं भी प्रयोग और निरीक्षण का विषय है। यदि हम यह स्वीकार कर लें कि जीव-जगत् में लागू होने वाले नियमों से

पृथ्वी पर मनुष्य के प्रवेश पर, दूसरे जीवों से उसके सम्बन्ध पर तथा उन अंतरों पर जो उसे मनुष्य बनाते हैं, कुछ प्रकाश पड़ सकता है, तो सम्पूर्ण विश्व के विकास का आद्योपान्त अध्ययन हमारे लिए आवश्यक हो जाता है। हम यह न भूलें कि हमारे निरीक्षण हमारे मस्तिष्क की निर्देशन-व्यवस्था के कारण विकृत भी हो सकते हैं।

जब हम किसी अपरिचित देश में पहुँचते हैं और हमारी इच्छा वहाँ की अर्थ-व्यवस्था, सामाजिक जीवन तथा बौद्धिक जीवन के अध्ययन की होती है, तो हम वहाँ के नैसर्गिक साधनों, उद्योग, परम्पराओं, भावनाओं, व्यापार, वैज्ञानिक और कलात्मक रचनाओं तथा वहाँ की शिक्षा और धर्म का अध्ययन करते हैं। इसके लिए हम छोटे-बड़े सभी पहलुओं, भौतिक स्थितियों तथा नैतिक कारणों पर विचार करते हैं। यदि हम ऐसा नहीं करते तो वहाँ का चित्र अशुद्ध होगा, अपूर्ण होगा।

पाठक इस बात को न भूलें, कि तथाकथित स्वतंत्र भौतिकवादी विचारक, जो स्वतंत्र इच्छा को स्वीकार नहीं करते—इस बात का दावा करते हैं कि बौद्धिक चिन्तन उन्हीं का है और उनके विश्वास विज्ञान पर आधारित हैं। या तो हम उनकी बातों को बिना छान-बीन किए स्वीकार करलें अथवा उन्हें चुनौती दें। अगर हम चुनौती देना पसन्द करते हैं, तो हमें अपनी धारणाओं को ठोस बुनियाद पर स्थापित करना होगा और इसके लिए हमें विज्ञान की मौलिक बुनियादों की छानबीन करनी होगी; तभी हम भौतिकवादी चिन्तन की कमजोरियों को खोज पायेंगे। लेकिन इसके लिए हमें वैज्ञानिक तथ्यों का ही नहीं, बल्कि वैज्ञानिक चिन्तन का भी समालोचनात्मक विश्लेषण करना होगा। प्रस्तुत अध्याय का यही विषय है।

विज्ञान का उद्देश्य, जैसा कि लोग समझते हैं, 'समझना' नहीं है; बल्कि भविष्यदर्शन करना है। विज्ञान घटनाओं, वस्तुओं और तथ्यों का सूक्ष्मता से वर्णन करता है और उन्हें, उन सामान्य नियमों द्वारा जोड़ता है, जिन्हें हम वैज्ञानिक नियम कहते हैं। इस प्रकार आगे आने वाली घटनाओं के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करता है। उदाहरण के लिए, ज्योतिषशास्त्र विश्व में नक्षत्रों की गति का अध्ययन करता है, जिसके फलस्वरूप इन नक्षत्रों की स्थिति का हिसाब लगाने और भविष्य में उनकी स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने में सहायता मिलती है। नक्षत्र-स्थिति-दर्शक (Planetarium) नाम के अद्भुत यन्त्र का निर्माण किया गया है, जो नक्षत्रों की गति का त्रिकाल दर्शन कराता है।

मिश्रण है। यह निरीक्षण उन दार्शनिक निष्कर्षों के हेतु बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है, जिन्हें हम अपने वैज्ञानिक प्रयोगों तथा सिद्धान्तों के आधार पर स्थापित करते हैं।

इसीलिए तो हमने ऊपर कहा कि घटनाओं को समझने के लिए हमें उसके बाह्य कारण (objective cause) ही नहीं, बल्कि शारीरिक और मानसिक घटनाओं का सम्बन्ध भी समझना होगा।

आगे हम विज्ञान में पायी जाने वाली अ-निरंतरता को समझेंगे। वास्तव मे विज्ञान अभी तक अत्यन्त दृढ़ विभागों मे विभाजित है। इसे हम उदाहरण-द्वारा स्पष्ट करेंगे। मान लीजिये, एक बड़ा ही प्रतिभासम्पन्न मानव समाज के नियमों का अध्ययन करना चाहता है। दुनिया के समस्त देशों की यात्रा करने के पश्चात् वह समस्त समाजो के सामान्य अंश, 'मनुष्य' की परीक्षा करता है। यह निष्कर्ष स्वाभाविक है कि मानव-समाज को सञ्चालित करने वाले नियम मनुष्य पर आधारित हैं और इसलिए वह अपना अध्ययन मानव व्यक्तियों से प्रारम्भ करता है। इस प्रकार वह इस बात से अवगत नहीं रहता कि मानव-समाज के अध्ययन को छोड़कर वह व्यक्ति के अध्ययन में लग गया और फिर मानव-समाज की ओर पहुँचना असम्भव हो जायगा; क्योंकि व्यक्तिगत मनोविज्ञान के नियमो से सामूहिक मनोविज्ञान के नियम निर्धारित नहीं किये जा सकते।

वह विज्ञान की एकता में विश्वास करता है। वह जानता है कि विश्व की समस्त घटनाएँ परस्पर सम्बन्धित हैं, और घटनाओं का प्रारंभिक ज्ञान निश्चय ही जटिल ज्ञान को जन्म देता है। अतएव वह मानव शरीर शास्त्र के सम्बन्ध में अपने अज्ञान का अनुभव करता है। उसकी राय में मनुष्य के व्यवहार का सम्बन्ध निश्चय ही शरीर-रचना और शरीर-विज्ञान से होना चाहिए, और इसके अध्ययन के लिए वह अनजाने रूप मे पहले की भाँति एक फिर नये क्षेत्र में प्रवेश करता है जहाँ से लौटना कठिन होता है। शरीर-विज्ञान से स्वभावतः वह जीव रसायन के तीसरे क्षेत्र मे जा पहुँचता है। जीव रसायन की तनिक जानकारी के बाद ही वह अजीव रसायन के क्षेत्र मे जाने को विवश होता है। ये क्षेत्र परिवर्तन अनायास ही होते चले जाते हैं। अपनी जानकारी के लिए वह अणुओं और परमाणुओं का अध्ययन करता है, और इसके बाद वह अंतिम रूप से 'इलेक्ट्रान' और 'प्रोटान' की दुनिया मे जा पहुँचता है। इस बिन्दु तक पहुँचने के बाद उसे अपने प्रारम्भिक बिन्दु की ओर लौटना नितान्त असम्भव हो जाता है।

वह पीछे लौट भी नहीं सकता, क्योंकि हमारी निर्देशन व्यवस्था में (परमाणुओं

की हमारे मस्तिष्क पर प्रतिक्रिया का फल) परमाणुओं के गुणों का उनके विद्युत्-कणों से कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं हुआ है। परमाणुओं के गुणों का अणुओं के गुणों से सम्बन्ध नहीं जुड़ता: जैसे सोडियम एक धातु है और क्लोरीन एक जहरीली गैस, इन दोनों के संयोग से 'सोडियम क्लोराइड' अर्थात् खाने में काम आने वाला नमक बनता है। उक्त अणुओं के तत्त्वों में नमक के तत्त्वों का नाम निशान भी नहीं मिलता। निरीक्षक महोदय पीछे की ओर नहीं लौट सकते, क्योंकि जीव जगत् के गुणों का अजीव जगत् से कोई सम्बन्ध नहीं तथा मनुष्य के विचार और मनोविज्ञान जीव रसायन और जीव पदार्थों के गुणों से नहीं प्राप्त किये जा सकते। दूसरे शब्दों में, एक निर्देशन-व्यवस्था से दूसरी निर्देशन-व्यवस्था में प्रवेश करने पर वैज्ञानिक नवीन घटनाओं को पाता है, और साथ ही वह अपने उद्देश्य से दूर-दूर हटता जाता है।

इस निरीक्षक ने वैज्ञानिक विधि-विश्लेषण का अनुसरण किया। यह उदाहरण उसकी सीमाएँ बतलाता है। मनुष्य जितने ही गहरे में जाकर विश्लेषण करता है, वह अपनी मूल समस्या से, जिसे वह सुलझाना चाहता है, उतनी ही दूर होता चला जाता है। वह समस्या उसकी नजरों से ओझल हो जाती है। यद्यपि वह तार्किक रूप से अपने अध्ययन-क्रम और घटनाओं में सम्बन्ध की कल्पना करता है, फिर भी वह उनके सहारे मूल समस्या तक नहीं लौट पाता।

ऊपर का विवेचन, चार्ल्स यूजेनगी की बात को स्पष्ट कर देता है कि हमारी निर्देशन-व्यवस्था घटनाओं का निर्माण करती है। निर्देशन-व्यवस्था मनुष्य पर आश्रित रहती है; वही उसका निर्माण करता है। प्रकृति में विभिन्न निर्देशन-व्यवस्थाएँ नहीं पायी जातीं। वहाँ तो केवल एक ही शाश्वत समरस घटना है, जिसकी निर्देशन-व्यवस्था मनुष्य की पहुँच की सीमा के बाहर है। इसका कारण उसका मस्तिष्क है, जिसने अपनी आवश्यकताओं के अनुसार भेद-उपभेद बना रखे हैं और घटना को अलग-अलग टुकड़ों में विभाजित कर दिया है।

दूसरी प्रमुख बाधा है, सैद्धान्तिक विज्ञान का दार्शनिक उपकरण बनना। यह बाधा अस्थायी हो सकती है। हम आशा कर सकते हैं कि भविष्य में यह न रहेगी, फिर भी आज हमें इसे स्वीकार करना ही पड़ता है। इसे इस प्रकार रखा जा सकता है।

हम जानते हैं, कि पदार्थ के अणु उसके उपअणु के कणों—प्रोटान्स—इलेक्ट्रान्स—न्यूट्रान्स—से बने हैं, लेकिन आज अणुओं और इलेक्ट्रान के बीच न भरने वाली दरार है। इलेक्ट्रानों की गतिविधि की व्याख्या करने वाले नियम

उदाहरण के लिए हम देखेंगे कि किस प्रकार संयोग का नियम अथवा प्रायिकता की गणना-प्रणाली गैसों के दाब में संगत ठहरती है। गैस में स्वतंत्र गतिशील अणु होते हैं। ये छोटे कण विभिन्न दिशाओं में अनियमित रूप से गति करते हैं और बर्तन की भीतरी दीवारों से टकराते हैं। बर्तन के दीवारों पर इन अणुओं के संयुक्त घात-प्रतिघातों के फल को दाब कहते हैं। (गैस का गति-सिद्धान्त बर्तन की दीवारों के धरातल की इकाई पर प्रति सेकिंड संघातों (Impact) की संख्या समान होगी, अर्थात् गैस का दाब बर्तन के धरातल पर सर्वत्र समान होगा। हमारी निर्देशन-व्यवस्था में हम इसे अनुभव करते हैं और वास्तव में यह संयोग का ही फल है; अन्यथा दाब विभिन्न स्थानों पर न्यूनाधिक होता।

हम जानते हैं कि प्रतिवर्ग इंच पर प्रति सेकिंड संघातों की संख्या समान नहीं होती, लेकिन प्रत्येक संघात की व्यक्तिगत शक्ति इतनी कम होती है कि उसे किसी मापक यन्त्र द्वारा नहीं जाना जा सकता। हम याद रक्खें कि साधारण वायुमंडल के दाब पर ३२° तापमान पर एक घन सेंटीमीटर आयतन में अणुओं की संख्या लगभग ३०,०००,०००,०००,०००,०००,००० होती है। इसे संक्षेप में ३×१०^{१९} रूप में लिखा जाता है। बर्तन की दीवारों पर संघात करनेवाले समस्त अणुओं का दाब केवल एक वायुमंडल के दाब के बराबर होता है। यह स्वाभाविक है कि धरातल की प्रति इकाई पर हजारों संघातों में त्रुटि इतनी सूक्ष्म होती है कि हमारे किसी भी श्रेष्ठतम मापक यन्त्र से नहीं नापी की जा सकती।

इससे प्रमाणित होता है कि यदि हम अंक-विज्ञान की विधि का उपयोग न कर इस समस्या को गणित के ढंग से सुलझाना चाहें, तो हमें ३×१०^{१९} के समीकरण लिखने होंगे, अर्थात् ३ के बाद १९ शून्य। यह मालूम किया जा चुका है कि इन समीकरणों को हल करने के लिए बीस दस खरब मानव-जीवन चाहिए।

यह असम्भव है, और हमें संयोग के सिद्धांत पर आश्रित अंक-विज्ञान की विधि की आवश्यकता एवं महत्त्व का भास देता है। इसके अतिरिक्त यह अनस्थिरता (Fluctuation) के महत्त्व को भी बतलाता है। यह अनस्थिरता बर्तन के दीवारों पर हजारों संघातों में पायी जाने वाली अत्यन्त सूक्ष्मतम त्रुटि है। स्वभावतः यह इतनी छोटी होती है कि हम नहीं समझ पाते, फिर भी कुछ निश्चित बातों में यह बड़ी महत्त्वपूर्ण होती है। हम एक घन सेंटीमीटरवाले दो आयतनों की कल्पना करें, जो एक छोटी नलिका द्वारा एक दूसरे से जुड़े

हैं और उनमें एक ही प्रकार की गैस भरी है। ज्योंही नलिका का मार्ग खुलता है, त्योंही दोनों बर्तनों में हमारा मापक यंत्र एक ही दाब सूचित करता है। हम जानते हैं कि हर समय उन दोनों बर्तनों में अणुओं की संख्या समान नहीं होती, क्योंकि अणुओं को नलिका में से दूसरे बर्तन में भी जाना पड़ता है। ऐसी स्थिति में दैवी संयोग के बिना दोनों दिशाओं में अणुओं की संख्या समान नहीं हो सकती; यद्यपि प्रति सेकिंड सघातों से संख्या अर्थात् दाब लगभग समान होगा। औसतन यह अन्तर अत्यन्त सूक्ष्मतम होगा, क्योंकि अणुओं की संख्या अत्यधिक है। अब हम ऐसे बर्तन की कल्पना करें, जिसमें अणुओं की संख्या कम है। मान लीजिए, केवल दस अणु हैं। ज्यों ही एक अणु संयोग से दूसरे बर्तन में प्रवेश करेगा, त्योंही पहले बर्तन में दस प्रतिशत दाब कम हो जायगा और दूसरे बर्तन में दस प्रतिशत दाब बढ़ जायगा। इस प्रकार दोनों बर्तनों के बीच बीस प्रतिशत का अन्तर रहेगा। एक अणु के जाने मात्र से ही यह अनस्थिरता महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रकार पहले उदाहरण में हजारों अणुओं के कारण गलती अत्यन्त सूक्ष्म थी। इस निर्देशन-व्यवस्था में दाब की समानता का नियम सत्य है और अनस्थिरता बहुत ही नगण्य है। दूसरे उदाहरण में, दूसरी निर्देशन-व्यवस्था में स्थिति ठीक इसके विपरीत है। औसतन दोनों बर्तनों में अणुओं की संख्या कभी समान नहीं होती, लेकिन तनिक सी असमानता दाब में परिवर्तन पैदा कर देती है। केवल बहुत ही छोटा संयोग क्षणभर के लिए बर्तनों में अणुओं की संख्या को समान रख सकता है। निर्देशन-व्यवस्था में साधारण परिवर्तन निरीक्षक की दृष्टि में दो विभिन्न घटनात्मक स्थितियां उत्पन्न कर देता है, फिर भी प्रकृति के लिए वह एक ही घटना है। इसलिए संयोग हमारे वैज्ञानिक नियमों का आधार है और उनके अपवादों का उद्गम। ऊपर का उदाहरण महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि बर्तनों को सैकड़ों या हजारों अणुओंवाला बना देना यद्यपि मनुष्य के लिए असंभव है, लेकिन प्रकृति के लिए यह संभव है। कुछ जीवों में अणुओं की संख्या सीमित होती है इसलिए वहाँ संयोग का नियम लागू नहीं होता। हम देख चुके हैं कि यही निरीक्षण बीमा कम्पनियों के आगे में सत्य साबित होता है, यदि बीमादारों की संख्या अधिक होती है।

अध्याय–३

(क) प्रायिकताएँ।
(ख) संयोग के नियमों का उपयोग
(ग) अम्लसार के अणु
(घ) केवल संयोग ही जीव की उत्पत्ति का समाधान नहीं करता।

सयोग और वैज्ञानिक नियमो पर अब तक विवेचन करने के दो मुख्य कारण थे। प्रथम तो यह कि पाठक यह समझ ले कि हमारे समस्त वैज्ञानिक नियमो का आधार सयोग है। यदि अणु-परमाणु को पूर्णरूपेण अनियमित गति मे न माना जाय तो हम किसी भी निश्चित नियम पर नहीं पहुँच सकते। हमारी निर्देशन-व्यवस्था की एक विचित्र समरसता को ये नियम स्पष्ट करते हैं। मनुष्य के दृष्टिकोण से इतना निश्चिय ही कहा जा सकता है कि नियम की उत्पत्ति अनियमितता में से होती है।

ऊपर की बात पर विचार करना आवश्यक है, क्योंकि कोई भी विचारवान् मनुष्य हमारे समय की इस अत्यन्त रहस्यमयी दार्शनिक समस्या को एक छोटे-से वाक्य द्वारा नहीं समझ सकता। यह उन महत्त्वपूर्ण समस्याओं मे से है, जो मानवीय बुद्धि और प्रतिभा को मनुष्य और प्रकृति के बीच सम्बन्ध स्थापित करने में काम आती हैं और साथ ही कोई राय व्यक्त करने में अंकुश का भी काम देती हैं।

यदि हम पुस्तक का उद्देश्य और नाम देखे तो पिछले अध्याय शुष्क और अनावश्यक लग सकते हैं, फिर भी अंशतः वे इसलिए लिखे गये हैं कि पाठक उक्त वाक्य को समझ सकें। हम आशा करते हैं कि पाठक इसके महत्त्व को समझेंगे।

दूसरा कारण यह है कि वर्तमान अध्याय में, यह स्पष्ट करने के लिए कि संयोग की मान्यता से जीवन की उत्पत्ति का प्रश्न हल नहीं होता, हम प्रायिकता की गणना-प्रणाली का उपयोग करेंगे। प्रायिकता की गणना-प्रणाली उन नियमों का संयुक्त रूप है, जो सयोग के नियमों को गणित के ढंग से व्यक्त करते हैं। अतः यह अवश्यक था कि पाठक इन विचारो से, वैज्ञानिक चिंतन के स्वरूप से, विश्व की सापेक्षता एव उससे उत्पन्न छायामूर्ति ने एव महान् समस्याओं से परिचित हो जाय।

हमारा विज्ञान प्रशंसनीय भी है और विचित्र भी। चूँकि वह मानव-मस्तिष्क की उपज है, इसलिए और भी अधिक प्रशंसनीय है। लेकिन हम यह स्मरण रखें कि हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रस्तुत और अपने तर्क एवं प्रतिभा द्वारा निर्मित एवं तथाकल्पित विश्व और रहस्यमय विश्व के परस्पर सम्बन्ध की उपेक्षा करते हैं, और करते रहेंगे। हमारी चेतना और विश्व-जगत् के सम्पर्क से ही विश्व का वैभव पैदा हुआ।

मानव-मस्तिष्क समझने के लिए उत्सुक रहता है। किसी भी चीज को समझने के लिए पहले वह उसे सरल रूप में सामने रखता है। किन्तु सभी स्पष्टीकरण स्वच्छन्द होने के कारण वास्तविकता से दूर ले जाते हैं। ऐसा करने में मौलिक समस्या ही आँखों से ओझल हो जाती है। चिन्तन का आधार हमें भाव-अनुभूतियों द्वारा मिलता है। जब हम इन अनुभूतियों का विश्लेषण करते हैं तो परमाणु और विद्युत्-कणों पर आ जाते हैं और फिर आणविक दृष्टिकोण से प्राप्त हुई अनुभूतियाँ महत्वहीन हो जाती हैं। संश्लेषण अथवा समस्त घटनाओं के बीच सामंजस्य खोजता हुआ मनुष्य अपने विषय से हटकर इतर क्षेत्रों में भटक जाता है। कभी-कभी वह बड़े ही सामान्य नियमों को पा लेता है। ऐसे नियमों की विवेचना हम आगे चलकर करेंगे।

अब हम प्रायिकता की गणना प्रणाली के उपयोग पर विचार करते हैं। प्रथम हम यह स्पष्ट करेंगे कि घटना की प्रायिकता से क्या अभिप्राय है। प्रायिकता किसी घटना की समस्त सम्भावनाओं की संख्या और अनुकूल सम्भावनाओं की संख्या का अनुपात है। समस्त सम्भावनाओं को समान महत्व दिया जाता है। उदाहरण के लिए, पैसे के चित और पट खेल में स्पष्टतः २ सम्भावनाएँ हैं—चित या पट। यदि पैसा एक समान है, जैसा कि वह होता है, तो दोनों की समान सम्भावना है। इसलिए जब पैसा ऊपर उछाला जायगा तो वह चित अथवा पट गिरेगा और प्रत्येक खेलने वाले की दृष्टि से प्रायिकता (अनुकूलता) १ होगी। इसे हम २ से भाग देकर ½ अथवा ०·५ कहेंगे। हम कहेंगे कि चित या पट खेलने वाले के लिए प्रायिकता ०·५ है। षट्तल वाले पाँसे के खेल में प्रायिकता का मूल्य ⅙ अर्थात् ०·१६६६ होगा।

महान् गणितज्ञ जोसेफ बर्ट्रेन्ड की युक्ति, 'संयोग न तो चेतन है और न इसमें स्मरणशक्ति है', को हमें स्मरण रखना चाहिए। दस बार पैसा उछालने पर यदि पट आता है, तो अगले बार उछालने से चित या फिर पट आ सकता है। लेकिन प्रायिकता ½ ही रहेगी। इसलिए संयोग की दृष्टि से खेल में जीतना

और हारना संभव है, किन्तु गणित की दृष्टि से यदि एक व्यक्ति काफी समय तक खेलता रहे और खेल में ईमानदारी वर्ती जाय, तो उसका जीतना और हारना बराबर होगा।

इसी प्रकार प्राकृतिक घटनाओं को भी हम प्रायिकता की गणना-प्रणाली के अनुसार व्यक्त कर सकते हैं। हमें यह अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रकृति ईमानदार है और हमें कभी धोखा नहीं देती। किन्तु यह बात जीव-धारियों के साथ लागू नहीं होती। सामान्यतः समस्यायें सरल होती हैं और प्रायिकतायें जटिल। ऐसी दशा में उनकी गणना निम्नाङ्कित प्रमेय द्वारा की जाती है।

जब घटना दो घटनाओं के साथ लगातार रूप से घटित होती है, तो प्रायिकता दो प्रायिकताओं के मूल्य के बराबर होगी। जैसे पॉसे के खेल में ५ की संख्या को दो बार, एक-के-बाद एक रूप में, खेला जाय तो प्रथम की प्रायिकता $\frac{१}{६}$ होगी और दूसरे की भी प्रायिकता $\frac{१}{६}$ होगी। इसलिए कुल प्रायिकता का मूल्य $\frac{१}{६} \times \frac{१}{६} = \frac{१}{३६}$ अर्थात् ·०२७७ के बराबर होगा जो बहुत ही कम है। उक्त संख्या के पॉच बार खेलने में प्रायिकता का मूल्य $\frac{१}{७७७६}$ अथवा ०·०००१३ होगा। उक्त संख्या को दस बार लगातार खेलने में प्रायिकता $\frac{१}{६०४६६१७६}$ अथवा लगभग ०·०००,०००,०१६ होगी। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि संयोग का अवसर बड़ी शीघ्रता से घटता चला जाता है।

यदि हम घटनाओं के समय को सीमित कर दें, जैसे उदाहरण के लिए कोई घटना अमुक परिस्थितियों में, जो चौबीस घंटों तक ही रहती हैं, सौ वर्ष में केवल एक बार घटित होती हो और पॉसे का एक खिलाड़ी उक्त संख्या को लगातार दस बार खेलता है, तो वह ६०,०००,००० बार खेलने में केवल एक संयोग की आशा कर सकता है। यदि वह चौबीस घंटे बिना खाये-सोये लगातार प्रति सेकिंड एक बार खेलता है तो वह कुल मिलाकर ८६४०० बार प्रतिदिन खेलेगा। इस प्रकार दो वर्ष में वह केवल एक अवसर की ही आशा कर सकता है। अब यदि पॉसा एक ऐसे पदार्थ से बना हो, जो अधिक-से-अधिक कुछेक दिन बना रह सकता है, तो वह पूरी तरह खेल भी नहीं पायेगा। यदि वह अपने पॉसे को दस बार ही फेंक सका तो उसका अवसर असंभव-सा ही है। हम शीघ्र ही इस उदाहरण का महत्त्व देखेंगे।

मान लीजिए, हम एक ऐसे चूर्ण की कल्पना करें, जिसमें १००० सफेद कण हैं और १००० काले कण, जो केवल अपने रंग से पहिचाने जा सकते हैं।

प्रयोग के लिए इन्हें एक पतली नलिका में इस प्रकार बन्द कर देते हैं कि सब कण केवल एक पंक्ति में ही रहें। सम्पूर्ण १००० सफेद कण एक पंक्ति मे नलिका के ऊपरी भाग मे हैं और उसी प्रकार सम्पूर्ण १००० काले कण नलिका के निचले भाग में। हमारी निर्देशन-व्यवस्था में नलिका आधी सफेद है और आधी काली।

अब हम सब कणों को एक कटोरे मे डाल देते हैं। काले और सफेद कण अनियमित रूप से, अव्यवस्थित रूप से मिल जाते हैं, यदि हम फिर उन्हें नलिका मे भर दें तो वे कण एक पंक्ति में तो आ जायेंगे, लेकिन काले और सफेद कणों का कोई क्रम न होगा, और हम चाहे जितनी बार उन्हें बार-बार भरें, वे कभी अपनी पहली जैसी स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकते। तनिक दूर से देखने से हमे नलिका का रग भूरा लगेगा। प्रत्येक बार भरने से कणों का स्थान क्रम बदलता रहेगा और हमारी निर्देशन-व्यवस्था मे नलिका का रंग केवल भूरा रहेगा। निरीक्षण बतलाया है कि हम चाहें जितनी ही बार भरने का निरर्थक प्रयोग करते रहें, अनुभव एक ही रहेगा। प्रायिकता की गणना-प्रणाली से हम इस बात को अच्छी तरह से समझ सकते हैं। १००० सफेद कणों की प्रायिकता इतर १००० काले कणों की प्रायिकता से सर्वथा भिन्न है, और उसे हम इस प्रकार लिख सकते हैं—$० ४८९ \times १०^{-६००}$ अर्थात् दस दशमलव विन्दु की दाहिनी ओर छः सौ शून्य लगाकर ४८९ लिखा जाय।

गणित मे १०० के ऊपर के ऋणात्मक घाताक महत्त्वहीन हो जाते हैं। उदाहरण के लिए :—

$३ \times १०^{-३} = ३ \div १०^{३} = \frac{३}{१०००}$ अर्थात् ०·००३।

उक्त आवश्यक बातो को समझ लेने के बाद पाठक मूल समस्या को समझ सकेंगे। पृथ्वी पर जीवन के प्रारंभ और उसकी प्रायिकता के सम्बन्ध मे जटिलताओं को देखते हुए, यह आवश्यक था। समस्या को और भी सरल किया जा सकता है। जीवन के आवश्यक तत्त्व जैसे, अन्नसार के अणुओं की उत्पत्ति को, प्रायिकता द्वारा निर्णय कर सकते हैं। जीवित पदार्थ के अणु प्रारंभ मे बड़े ही अव्यवस्थित रूप मे थे। इस अव्यवस्था को हम ०·५ और १ के बीच मे व्यक्त कर सकते हैं। एक संख्या पूर्णरूपेण असमिति (dissymmetry)—जैसे काले और सफेद कणो के सम्बन्ध में, समस्त सफेद कण एक ओर और काले कण दूसरी ओर—और ०·५ सख्या पूर्णरूपेण अणुओं के समिति-रूप (symmetry) को व्यक्त करती है। अत्यधिक सभावित अनस्थिरता (fluc-

tuation) ०·५ के इर्दगिर्द होगी। उक्त गणना प्रोफेसर चार्ल्स यूजेन गी ने अणुओं की ०·१ अम्रमिति तक की थी, जबकि परमाणुओं की संख्या २००० थी। समस्या को सरल करने के लिए इस काल्पनिक अन्नसार अणु मे दो तत्त्वों को मान लिया गया था, जबकि तत्त्वों की कम-से-कम सख्या ४—कार्बन, हायड्रोजन, नायट्रोजन, आक्सिजन—होती है। इसके अतिरिक्त ताँबा, लोहा, गन्धक आदि के तत्त्व भी पाये जाते हैं। इन तत्त्वों का परमाणु भार १० और अणुभार २०००० माना गया है। यह अंक वास्तव में अत्यन्त सरलतम अन्नसार अणु (अंडे का अलबूमिन ३४·५००) से भी कम है।

ऊपर के अत्यन्त सरलतम अन्नसार अणु के विषय में प्रायिकता का मूल्य है—

$$२·०२ \times १०^{-३२१} \text{ अर्थात् } २·२ \times \frac{१}{१०^{३२१}}$$

इस सभावना के लिए पदार्थ के आयतन की कल्पना नहीं की जा सकती। मोटे तौर पर यह आयतन उस गोले के समान हो सकता है, जिसके अध व्यास की दूरी इतनी बड़ी हो, जितनी की प्रकाश-किरण $१०^{८२}$ वर्षों में पूरी कर सके। (पाठक यह न भूले कि प्रकाश की गति १८६००० मील प्रति सेकिंड होती है—अनुवादक)। निस्सदेह यह आयतन विश्व और दूरस्थ तारों के समूह को मिलाकर बने आयतन से भी बड़ा है, जहाँ से प्रकाश को हम तक पहुँचने में २×१०^{६} वर्ष लगते हैं। यह आयतन आइन्सटीन द्वारा कल्पित विश्व से कहीं अधिक बड़ा है (चार्ल्स यूजेन गी)।

साधारण तापमान की प्रक्रिया के अभाव मे एक अन्नसार अणु की प्रायिकता केवल सयोग पर निर्भर करती है। यदि हम यह मानें कि ५×१०^{१४} प्रति सेकिंड से अणुओं की संख्या में विक्षोभ उत्पन्न हो, तो हम देखेंगे कि औसतन अणुओं के पदार्थ रूप मे बदलने का समय $१०^{२४३}$ खरब वर्ष लगते हैं।

लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि पृथ्वी को बने केवल २० खरब वर्ष ही हुए हैं, और पृथ्वी पर जीवन प्रारंभ हुए लगभग १० खरब वर्ष, जबकि पृथ्वीतल का तापमान (१×१०^{९} वर्ष पूर्व) शीतल हो चुका था।

हमने पॉमे खेलने वाले खिलाड़ी के सम्बन्ध में कहा था कि उसके पास इतना समय नहीं, जो वह खेलता रहे और एक अवसर पा सके। तीन-चार वर्षों का समय बहुत थोडा है। यहाँ हम $१०^{२४३}$ वर्षों से भी अधिक समय पाते हैं।

जीवन का प्रश्न हमने नहीं उठाया; केवल उससे सम्बन्धित एक तत्त्व—अन्नसार—पर विचार किया है। अन्नसार के एक अणु पर विचार करना व्यर्थ है। करोड़ों समान अणुओं पर विचार करना होगा, और इस प्रकार इन समान अणुओं की उत्पत्ति के बारे में हमें कहीं अधिक बड़ी संख्या की आवश्यकता होगी और, जैसा कि हम देख चुके हैं, प्रत्येक नवीन अणु के साथ प्रायिकता कम होती जाती है। यदि जीव कोषों (living cell) की उत्पत्ति को गणित की भाषा में व्यक्त करें, तो ऊपर की संख्याएँ नगण्य साबित होंगी। प्रायिकताओं को बड़ा करने के हेतु ही हमने समस्या को जानबूझ कर सरलतम बना दिया।

घटनाएँ एक अवसर के लिए पृथ्वी की आयु के समय की अपेक्षा कहीं अधिक अनन्त कालीन समय लेती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन सब की कल्पना मानव-ज्ञानेन्द्रियों से परे की पूर्णतया असम्भव बात है।

इस प्रकार हम अपने को गोरखधन्धे में फँसा हुआ पाते हैं। हम या तो अपने विज्ञान एवं गणित के तर्कों में विश्वास रक्खें, जिनसे हम अपने चारों ओर की घटनाओं का संतोषजनक समाधान पाते हैं, लेकिन ऐसा करने में कुछ मौलिक समस्याएँ हमारी पहुँच के बाहर रहती हैं और उनकी व्याख्या के लिए हमें चमत्कार को स्वीकार करना पड़ता है, अथवा हम अपने विज्ञान की व्यापकता में संदेह और प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या करने में संयोग को स्वीकार करें। दूसरे शब्दों में हम चमत्कार अथवा विज्ञान से उच्चतर किसी शक्ति का हस्ताक्षेप स्वीकार करें।

दोनों मार्गों से हम इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि जीवन की व्याख्या करने वाले तत्त्व, उनका विकास और प्रगति वास्तव में किसी भी वैज्ञानिक आधार पर सम्भव नहीं, और, जब तक आधुनिक विज्ञान के आधार को हटा न दिया जाय, तब तक उनका स्पष्टीकरण नहीं हो सकता।

हम अपने ज्ञान में एक मोटी दरार पाते हैं। जीवित और अजीवित पदार्थ के बीच में हम किसी पुल का निर्माण नहीं कर पाते। पाठकों को याद होगा कि इसी प्रकार हमने विद्युत-अणु और परमाणुओं के बीच पायी जाने वाली दरार के सम्बन्ध में चर्चा की थी। हमें आशा है कि विज्ञान द्वारा एक दिन यह खाई अवश्य भर जायगी, लेकिन इस समय तो यह आकाश-कुसुम के समान ही है।

वेकाफ और स्टेनली द्वारा राकफेलर इंस्टिट्यूट में जीवित और अजीवित

पदार्थों के बीच की गयी महत्त्वपूर्ण खोजों से हमारे उक्त कथन में कोई अन्तर नहीं पड़ता। पहली बात तो यह है कि अणुभार की अधिकता के कारण सयोग द्वारा उनके निर्माण की सभावना और भी अधिक कम हो जाती है। दूसरी बात यह कि अन्नसार के अणु जीवित नहीं हैं। यह ठीक है कि वे उत्पन्न होते हैं, लेकिन तभी तक, जब तक वे जीवित पदार्थ से सम्बन्धित रहते हैं; ठीक उसी प्रकार, जैसे इतर विजातीय द्रव जीवित पदार्थ के अन्दर चलने वाली रासायनिक प्रक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं।

यह विश्वास कि हम जीवन-सम्बन्धी घटनाओं से प्राणियों के विकास की व्याख्या ठीक उसी प्रकार कर पायेंगे, जिस प्रकार मकानों मे आग लगने अथवा बर्तन में गैस के दाब की, तो यह केवल एक विश्वास का विषय होगा, वैज्ञानिक कथन नहीं। असाधारण अतिस्थिरता घटनाओं के गुणात्मक पहलू की व्याख्या नहीं करती, वह इतना ही बतलाती है कि समस्या का मात्रात्मक हल असभव नहीं। मनुष्य की प्रखर बुद्धि से उत्पन्न युक्ति केवल अचर जगत् पर लागू हो सकती है, चर जगत् पर नहीं।

जीवन और मनुष्य के महत्वपूर्ण विषयों को समझने के लिए हमें विवशतापूर्ण असयोग अथवा एडिंगटन महोदय के शब्दों मे 'धोखा देनेवाले' को स्वीकार करना पड़ता है, जो समस्त नियमों के विपरीत भी काम कर बैठता है।

पिछले अध्यायों मे हमने देखा कि प्रथम तो भौतिक जगत् के बारे में हमारा ज्ञान उससे बहुत कम है, जितना हम समझते हैं। दूसरे यह कि हमारा ज्ञान हमारे मस्तिष्क की रचनात्मक स्थिति पर निर्भर है। हमारे द्वारा बनाये गये नियम केवल एक सामान्य विशेषता और प्रकृति मे पाये जाने वाले मात्रात्मक परिवर्तनों की अभिव्यक्ति हैं। लेकिन यह सब अजीव जगत् के बारे में ही कहा जा सकता है। प्रकृति में, उसकी निरंतरता मे और हमारे द्वारा कल्पित विश्व की धारणा में दरारें पायी जाती हैं, और हम जिस निरंतरता की बात प्रकृति में पाते हैं, वह तो केवल दार्शनिक अथवा भावनात्मक धारणा है। यदि हम इस निरतरता को प्रमाणित कर सकते, तो अपने बौद्धिक प्रसाधनों की सहायता के बिना ही हम सीधे उस सत्य को पा सकते थे; और निश्चय ही विज्ञान की बुनियादें फिर-से रखने की आवश्यकता होती। मानव-मस्तिष्क ने इस संभावना का अनुमान बहुत पहले कर लिया था। एक बार फिर वह इस अन्तर्ज्ञान के प्रति हमें उदार बनने की शिक्षा देता है।

यह बताया जा चुका है कि हम उसी आधार पर जीवन और जीवन-सम्बन्धी

तत्त्वों की व्याख्या नहीं कर सकते, जिन आधारों पर हम अजीव जगत् की व्याख्याएँ करते हैं।

फलस्वरूप हम विज्ञान में विश्वास तो अवश्य रक्खें, लेकिन उसकी सर्व-समर्थता में अन्ध विश्वासी न बन बैठें। हम यह न भूलें कि मस्तिष्क की गतिविधि से हम पूर्णतः परिचित नहीं हैं, तथा बौद्धिक चिन्तन उसका अंग होने के नाते पूर्णतया विश्वसनीय नहीं हो सकता।

अध्याय—४

(क) निर्जीव-जगत् के विकास के नियम, जीवन-विकास के नियमों के विपरीत है।
(ख) 'केरनॉट-क्लासियस' का नियम।
(ग) जीवाणु सम्बन्धी दृष्टिकोण।
(घ) स्वतन्त्र इच्छा और भौतिकवादी दृष्टिकोण।

अब तक की विषय-चर्चा को देखकर पाठक प्रश्न कर सकते हैं कि पुस्तक से सम्बन्ध न रखनेवाले विषय के लिए इतना स्थान घेरने की क्या आवश्यकता थी? संभवतः पुस्तक के परिचय में लिखी हुई बातें निरर्थक जान पड़ें। प्रस्तुत अध्याय में हम विकास-वाद और मानव-स्वतंत्रता अर्थात् स्वतत्र इच्छा पर विचार करेंगे और इसके सम्बन्ध में भौतिकवाद, यान्त्रिकवाद, बुद्धिवाद अथवा अनीश्वरवाद की समालोचना भी यह स्पष्ट करने के लिए करेंगे, कि यह दृष्टिकोण वैज्ञानिक नहीं है, जैसा कि कुछ लोगों का विश्वास है। अवश्य ही हम किसी दृष्टिकोण को अच्छा या बुरा नहीं कहते, बल्कि इस बात की खोज करते हैं कि वास्तव में अमुक दृष्टिकोण का समर्थन तथ्यपूर्ण है अथवा नहीं।

आधुनिक विज्ञान हमें बतलाता है कि समस्त पदार्थ असंख्य अणुओं-परमाणुओं से निर्मित हैं, जो बड़ी तीव्र गति से घूम रहे हैं और जिनकी गतियाँ पूर्णतया संयोग पर निर्भर करती हैं। उनकी गतिविधि का वर्णन करने के लिए हमने 'पूर्ण अनियमितता' शब्द का उपयोग किया है।

आधुनिक विज्ञान की सबसे बड़ी सफलता यह थी कि केरनॉट

क्रमासिरम नियम* (जिसे ऊष्मा-गति का दूसरा नियम भी कहते हैं) निर्जीव-जगत् की व्याख्या का वास्तविक आधार है। महान् वैज्ञानिक बोल्ट्जमान (Boltzmann) ने प्रमाणित किया था कि उक्त नियम द्वारा प्रतिपादित निर्जीव जगत् का अपरिवर्तनीय विकास अधिकाधिक सम्भाव्य अवस्था के समान है और वह निरंतर ऊर्जा की समानता की ओर विकसित हो रहा है। इस प्रकार विश्व उस सन्तुलन—अवस्था की ओर जा रहा है, जहाँ आज की समस्त असममिति (dissymmetries) समाप्त हो चुकेगी, जहाँ सब गति स्थिर हो जायगी, और जहाँ पूर्ण अन्धकार और पूर्ण शीतलता होगी। सैद्धान्तिक रूप से यही विश्व का अन्त होगा।

पृथ्वी पर हम मनुष्य जीव-जगत् के विकास के साक्षी हैं। हम देख चुके हैं कि संयोग का नियम जीवन की उत्पत्ति के बारे में कोई संतोषजनक उत्तर नहीं देता और यह नियम किसी भी ऐसे विकास का, जो कम-से-कम असममिति अवस्था की ओर विकसित होता है, समर्थन नहीं करता। जबकि जीवन विकास के इतिहास में हम निरंतर शारीरिक और उसकी गत्यात्मक असममिति में वृद्धि पाते हैं। यह विकास एक अरब वर्षों से भी अधिक समय में (जो सम्भवतः पृथ्वी पर जीवन-प्रारंभ की आयु भी है) हुआ है। असममिति मनुष्य द्वारा निर्मित विशेष बन्धनों को स्वीकार नहीं करती।

उक्त भयंकर विरोध भौतिकवाद के मार्ग में एक बड़ी बाधा है। यह तर्क, कि समस्त जीवन उसका विकास और विचारों की अभिव्यक्ति एक संयोगात्मक नगण्य घटना है, वास्तव में बड़ा ही दयनीय है। जीवन का विकास महत्त्वपूर्ण निरीक्षण द्वारा, जैसे पथराई हुई हड्डियाँ आदि से प्रमाणित हो चुका है। निर्जीव जगत् का विकास, मानव-मस्तिष्क द्वारा पोषित एक धारणा है। इसका मतलब यह भी नहीं कि मनुष्य का इतना महान् बौद्धिक कार्य एवं परिश्रम, जिसने अजीव जगत् के सामान्य नियमों का खोज निकाला, रद्दी की टोकरी में फेंक दिया जाय; बल्कि उन नियमों को मानव-मस्तिष्क की एक कलात्मक अभिव्यक्ति मान लेनी चाहिए।

---

* ऊष्मा गति के नियम को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—कोई भी पदार्थ-व्यवस्था अपने गति-काल में एक ही स्थान से दुबारा नहीं गुजरती। गति-काल में उसकी ऊर्जा (Energy) में निश्चित मात्रात्मक लोप होता है। इस प्रकार उसकी गति में अपरिवर्तनीयता (Irreversibility) होती है।

जीव-जगत् के विकास को अजीव जगत् के विकास के अधीन करना, वैज्ञानिक या दार्शनिक रूप स्वीकार नहीं किया जा सकता। पुराने भौतिकवादियों की धारणा, कि मनुष्य के जीवन का कोई कारण नहीं कोई उद्देश्य नहीं और इस उद्देश्यहीन संसार रूपी जंगल में वह उत्तरदायित्वहीन जीवन में भटक रहा है, हमें प्रतिभासम्पन्न दार्शनिक व्हाइटहेड की उक्ति का स्मरण दिलाता है—"...वे वैज्ञानिक जो जीवन को उद्देश्यहीन प्रमाणित करने में अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं वास्तव में एक मनोरंजक अध्ययन के विषय हैं।"

संयोग के नियम के द्वारा जीवन-विकास की व्याख्या आज टिक नहीं सकती, क्योंकि यह मनुष्य और उसकी मानसिक गतिविधि को अछूता छोड़ देती है तथा यह जीवन के प्रगतिशील आध्यात्मिक पहलुओं और उनके विकास की व्याख्या नहीं करती। अतएव हमें दूसरी मान्यता (bypothesis) का प्रयोग करना चाहिए और यह मान्यता है—उद्देश्यवाद।

दुर्भाग्यवश यह उद्देश्यवाद एकदम गलत ढंग से समझा गया और सैद्धांतिक रूप में वैज्ञानिकों ने इसकी गलत व्याख्या की, जिसके फलस्वरूप यह निरर्थक मान लिया गया। सबसे बड़ी गलती इन लेखकों ने यह की कि उद्देश्यवाद को विशेष वर्गों तक ही सीमित माना। वे अनुरूप बनने की विचित्रता पर बात करते हैं, लेकिन जाति और व्यवस्था आदि महत्त्वपूर्ण समूह के परिवर्तन को भूल जाते हैं। इस प्रकार विकास की समस्या की व्याख्या न कर सकने के कारण उद्देश्यवादी मान्यता प्रायः मर चुकी। हमारी राय में यह परिणाम ठीक ही था। लेकिन उद्देश्यवाद विभिन्न रूप में आज भी जीवित हो सकता है, तथा अवश्य ही जीवित होना चाहिए। और यह तभी सम्भव है, जब कि हम विकास को प्रारम्भ से समस्त भौगोलिक युगों से गुजरता हुआ मानें। थोड़ी देर के लिए विकास की गुत्थियों, उसकी प्रक्रियाओं को भूलकर, जिनके विषय में हम तनिक-सा ही जानते हैं, हम समस्त महान् विश्व को स्थिति रूप में नहीं, बल्कि निरंतर परिवर्तन की अवस्था में देखें। किसी अंग विशेष को देखने की अपेक्षा हम अपनी दृष्टि विकास के मौलिक पहलुओं पर—जीवन की आरम्भिक दशा से लेकर मनुष्य तथा उसके मस्तिष्क की अभिव्यक्ति तक—स्थिर रक्खें।

एक चलती हुई फिल्म की परीक्षा हम दो प्रकार से कर सकते हैं। या तो प्रत्येक चित्र को *अलग-अलग* आवर्धन शीशे (magnifying glass) द्वारा अथवा पूरी फिल्म को सिनेमा-यन्त्र-द्वारा परदे पर चलाकर। पहली विधि में हम

कुछ मनोरंजक बातों को देख सकेंगे, जो सम्पूर्ण चित्र देखने पर हम नहीं देख पाते। किन्तु एक दोष इसमे है कि चित्रों की स्थिरता के कारण हम दृश्य या पात्रों के भाव नहीं समझ पाते। विकास स्वयं ही एक अपूर्ण फिल्म के समान है, जिसमे बहुत से अंग लुप्त हैं। फिरभी हम उसकी वर्तमान अवस्था और भूतकाल के कुछ सुरक्षित अशों से परिचित हैं, जिन्हें हम अपनी कल्पना द्वारा अच्छी तरह जोड़ सकते हैं।

पथराई हड्डियों का संग्रह और उनका प्रशसनीय वर्गीकरण उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में क्यूवीर और लामार्क द्वारा किया गया था। उससे हमे साधनों का भंडार मिलता है, जो निरतर बढ़ता जा रहा है। विकास की गति और उसकी प्रक्रिया की व्याख्या करने के लिए हमें चाहिए कि मानव-मस्तिष्क की विचार-पद्धति और उसके अनुभवों के प्रभावों से हम सावधानीपूर्वक बचते चलें।

किसी भी समस्या का समाधान करने में मनुष्य की अपने विचारो और प्रतिक्रियाओं को मिला देने की विशेष प्रवृत्ति पायी जाती है। विभिन्न पशुओं के—जैसे कीड़ों के—मनोविज्ञान की विवेचना करते समय वह उनकी प्रतिक्रियाओं को अपने स्वयं के अनुभवों से मिलाने लगता है। वह प्रायः इस बात को भूल जाता है कि कोई भी दो अवस्थाएँ समान रूप मे नहीं पायीं जातीं। पशुओं की शारीरिक रचना के फलस्वरूप उत्पन्न प्रतिक्रिया को मनुष्य कभी नहीं समझ पायेगा। यदि हाथी की चमड़ी मे छिपे हुए कीटाणु के पास हमारी जैसी प्रतिभा और अपने पूर्वजों से प्राप्त विज्ञान होता तो वह अपने विश्व—हाथी—के नियमों से परिचित नहीं होता। वह अपने विश्व के सम्बन्ध मे एक धारणा बनाता, जो हमारी धारणा से सर्वथा भिन्न होती। जब हाथी अपनी सूड़ से किसी अंग को खुजलाता अथवा स्नान करता, तो चमड़ी के अन्दर रहने वाला वह कीटाणु इन सब घटनाओं का कोई दूसरा ही कारण समझ बैठता और इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं होती। उसके लिए तो चौबीस घंटे का दिन शताब्दी अथवा चार पीढ़ियों के समान होगा। हमें इस कीटाणु के समान अपने दृष्टिकोण को न रखना चाहिये।

विकास के अध्ययन मे, जिसके हम स्वयं अंग हैं, हम यह न भूले कि यह उस कहानी का एक अध्याय मात्र है, जो बहुत पहले शुरू हुई थी। यह विकास अजीव-विकास के बाद ही अस्तित्व मे आया, जो अब भी हमारे चारों ओर है और जिसमें 'केरनॉट क्लासियस' का नियम लागू होता है। इसके पूर्व अणु-परमाणुओं का युग था, जिसके बारे में हम नाम-मात्र को ही जानते हैं।

यह युग लगभग दस हजार करोड़ वर्ष पूर्व शुरू हुआ था। आधुनिक सिद्धात के अनुसार यह युग एक करोड वर्ष से अधिक नहीं होता। पहला विकास इलेक्ट्रान, प्रोटान आदि का था, जो दूसरे विकास के युग के नियमों को नहीं स्वीकार करता। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह दूसरा युग अपरिवर्तनीय है, अर्थात् वहाँ तक अब फिर से नहीं लौटा जा सकता।

प्रत्येक घटना में आदि ऊर्जा (available power) होती है, जो उसे हमारे विश्व से प्राप्त होती है। यदि ऐसा नहीं होता, तो अमुक घटना कुछ ऊर्जा (energy) किसी दूसरी व्यवस्था से प्राप्त करती। ऊर्जा के इस स्थानान्तर की प्रक्रिया में घटना की पूर्व व्यवस्था, जिसके कारण से ऊर्जा कार्य के रूप में उपलब्ध होती रहती है, पूर्णरूपेण अव्यवस्था में (असमिति–'dissymetry') परिवर्तित हो जाती है। ताप अनुपात (entropy) को अव्यवस्था का मापक माना जा सकता है और यह वह ऊर्जा है, जिसकी गति काल में लोप हो जाती है।

इस प्रकार हम विकासों के विकास के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, जिसके समय की कल्पना मनुष्य के लिए सभव नहीं। हमारा विषय तो स्वयं हमारा विकास तथा हमारी समस्याएँ हैं। जैसा कि पहले कह चुके हैं कि जीव-विकास अजीव-विकास के नियमों को नहीं मानता। यह इस बात की ओर सकेत करता है कि मानव विज्ञान इन दोनों विकासों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने में पूर्णतया असफल रहा है। जीव विकास में हमें एक नये मोड़ की सूचना उस समय मिलती है, जबकि जीव में चेतना का उदय होता है।

भौतिकवादियों और अध्यात्मवादियों में सघर्ष का एक और कारण है, जिसपर काफी विवाद हो चुका है। वह है—'स्वतत्रता'। समस्त धार्मिक लोगों के लिए स्वतंत्र इच्छा को स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है, मुख्यतः उन लोगों के लिए, जो मनुष्य को केवल प्राणी अथवा उद्देश्यहीन यन्त्र का पुर्जा नहीं समझते और जिनका विश्वास है कि मनुष्य स्वयं अपने भविष्य का निर्माण कर सकता है।

दूसरी ओर केवल सयोग में विश्वास करने वाले विशुद्ध भौतिकवादी, जो विज्ञान में एकता खोजते हैं, और समस्त घटनाओं (जीवन और विचार भी) का एक ही आधार ढूँढ़ते हैं, ऐसी बात को कभी स्वीकार नहीं करेंगे, जो उनके शुद्ध यान्त्रिक विश्व में एक तूफान खड़ा कर दे।

हम परस्पर-विरोधी दो मान्यताएँ पाते हैं। भौतिकवादी की कमजोरी इस बात में है कि, यद्यपि वह स्वयं तो अपने को दृढ़ बुद्धिवादी एव वैज्ञानिक होने

मानव-दृष्टिकोण से तो स्थिति बहुत ही सरल है। हम अनुभव से जानते हैं कि अन्य मार्गों की अपेक्षा कर्तव्य-पालन का मार्ग कितना कठिन है। कर्तव्य-पालन के लिए जीव-जगत् के पुरखाओं ने जीवन दे दिये हैं। मनुष्यों ने अपने धर्म के लिए, उच्चतर मूल्यों को पाने के लिए संघर्ष किया है। यदि वे कुछ शताब्दियों के भीतर अपने समान आदर्शों से युक्त जनसमूह का निर्माण करने में सफल होते हैं, तो भावी निरीक्षक उसे विकास-परम्परा का अंग मान लेगा।

लेखक को यह आशा नहीं है कि यह विवेचन किसी भौतिकवादी को संतुष्ट कर सकेगा। जिन लोगों का किसी एक पर दृढ़ विश्वास है, उन्हें केवल शब्दों और तर्कों से नहीं सतुष्ट किया जा सकता। विवेकहीन मनुष्यों से किसी बौद्धिक तर्क के मानने की आशा नहीं की जा सकती, क्योंकि हमारे और उनके लिए शब्दों का एक ही अर्थ नहीं होता। हम नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की चर्चा करते हैं और विद्युत्-कणों की अपेक्षा उनका सम्बन्ध मनुष्य की दृष्टि से स्थापित करते हैं, जबकि भौतिकवादी इन मूल्यों को ही स्वीकार नहीं करते और दृढ़ता के साथ भौतिक जगत् मे विश्वास करते हैं, जबकि हम केवल उसे भ्रम मात्र मानते हैं। आज परमाणु युग मे जबकि मानवता के अस्तित्व का प्रश्न खतरे में है, लोग अनुभव करने लगे हैं कि वास्तविक सुरक्षा केवल उच्च एवं श्रेष्ठ मानवीय नैतिक मूल्यो के विकास मे ही है। मानवता के इतिहास में प्रथम बार ही मनुष्य अपने बौद्धिक निर्माणों से भयभीत हुआ है, और आश्चर्य करता है कि कहीं वह गलत मार्ग पर तो नहीं चल पड़ा है।

स्वतंत्र इच्छा के विकास के प्रति यान्त्रिक दृष्टिकोण की विवेचना हमने यह दिखाने के लिए की कि अपनी वैज्ञानिक बौद्धिकता का ढोल पीटने वाले भौतिकवादी अपनी ही बातों के प्रति ईमानदार नहीं है। वे अपने विरोधो और गलतियो का विज्ञापन तो नहीं करते, लेकिन यह स्पष्ट है कि न तो वे पूर्णतः बौद्धिक हैं और न वे वैज्ञानिक तथ्यो पर ही आधारित हैं।

अब हम पृथ्वी पर जीवन-विकास की कहानी को प्रारभ करेंगे। हमें आशा है कि हम पाठक को यह मना सकेंगे कि बिना सकल्पवादी दृष्टिकोण अपनाये हम उसे नहीं समझ पायेंगे; लेकिन हम सकल्पवाद को अतिम उद्देश्य के रूप में अपनायेंगे।

दूसरी पुस्तक

जीवन का विकास

अध्याय—५

(क) पृथ्वी की आयु।
(ख) विकास का आरंभ।
(ग) अमैथुनी उत्पत्ति और 'मृत्यु का आविष्कार'।
(घ) वनस्पति की अपेक्षा पशु-प्राणियों का शीघ्र विकास।
(ङ) पथराई अस्थियों की सुरक्षा।
(च) संक्रमणकालीन अवस्थाएँ।

पृथ्वी पर जीवन की कहानी कहने के पूर्व पृथ्वी की आयु और भौगोलिक युगों का निर्णय करने की विधि के सम्बन्ध में कुछ शब्द आवश्यक हैं। हम कुछ पशु-प्राणियों के प्रादुर्भाव की चर्चा करेंगे, जिनका समय हजारों लाखों युगों पहले था। पाठक अवश्य ही जानना चाहेंगे कि किस आधार पर इन आंकड़ों को स्वीकार किया गया है।

आधुनिकतम एवं विश्वसनीय आधार के अनुसार पृथ्वी का जन्म सौरमंडल के अन्य नक्षत्रों के साथ-साथ हुआ था। हमारी पृथ्वी अवश्य ही २ अरब वर्ष पुरानी होनी चाहिए। सूर्य की आयु पचास हजार खरब से अधिक नहीं हो सकती। जब हम नक्षत्र और नक्षत्र समूह पर विचार करते हैं, तो भूतकाल बहुत ही छोटा लगता है। 'ऐसा प्रतीत नहीं होता कि उनका जन्म दस अरब वर्ष पूर्व हुआ था' (एडिंगटन—Eddington)।

पृथ्वी की आयु-गणना भली प्रकार रेडिओधर्मी तत्त्वों से हो सकती है। विधि की रूप रेखा इस प्रकार है :—

यह मालूम है कि कुछ तत्त्व निरंतर विग्रह-गति की अवस्था में रहते हैं।

परमाणु-केन्द्र अपने अंश का कुछ भाग निकालता रहता है और इस प्रकार नयी सहति (Mass) वाले तत्त्व की रचना होती है। उसका नया विद्युत् आवेश भी होता है। इस प्रकार के लगभग बीस परमाणु मालूम हो चुके हैं, जिनमें यह गति स्वाभाविक रूप से ही होती रहती है। इन के अतिरिक्त सैकड़ों कृत्रिम प्रकार से बनाये जाना सम्भव है। स्वाभाविक रेडियोधर्मी परमाणुओं में तीन समूह हैं—रेडियम, एक्टीनियम, थ्योरीयम। ये सभी लगभग स्थिर-धर्मी (Stable) हैं, इसलिए विग्रह की प्रक्रिया अत्यन्त्य धीमी रहती है। इन विकिरणशीलताओं (Radioactive) को मापने की विधि अत्यन्त सूक्ष्मग्राही है, इसलिए परिवर्तित पदार्थ को ठीक-ठीक मापना संभव हो सका। भारी यूरेनियम एक वर्ष में अपने ६५७०० लाख परमाणुओं में से एक परमाणु छोड़ता है। इसी प्रकार हलका यूरेनियम अपने १०३०० लाख में से एक, और थोरीयम अपने २००००० लाख परमाणुओं में से एक परमाणु छोड़ता है। नये निकले हुए परमाणु अपेक्षाकृत कम स्थिर होते हैं और विग्रह द्वारा अपने समूह की एक लम्बी शृंखला बनाते हैं और अन्त में वे सब सीसा के स्थाई परमाणुओं में बदल जाते हैं। उनके परमाणुभार २०६, २०७, २०८ के तीन समस्थानिक आइसोटोप्स पाये जाते हैं। बीच में बने हुए किन्हीं परमाणुओं का काल लाखों वर्षों का होता है और किन्हीं का एक सेकिंड भी नहीं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि परमाणु विग्रह की यह प्रतिक्रिया बड़े ही सुव्यवस्थित रूप में चलती है और इनकी विग्रह-गति पर तापमान अथवा वायु-दाब आदि बाह्य प्रभावों का असर नहीं पड़ता। इस प्रकार हमारे पास पूर्णरूपेण सच्ची घड़ी है, जो कभी भी खराब नहीं हो सकती।

अतः यदि किसी चट्टान में यूरेनियम है, जो दस खरब वर्ष से उसमें दबी है, तो चौदह प्रतिशत परमाणुओं का विग्रह हो चुका होगा और सीसा के उतने ही परमाणुओं ने उनका स्थान ले लिया होगा। उनका भार मूल यूरेनियम-परमाणु के भार का बारह प्रतिशत होगा और दो प्रतिशत 'हिलियम' इस काल में मुक्त हुआ होगा। धातु जितनी पुरानी होगी सीसे की मात्रा उतनी ही अधिक होगी। इसलिए सीसे की मात्रा और यूरेनियम की मात्रा के अनुपात से चट्टान बनने से अब तक के समय को निकाला जा सकता है। हम यह और बतलाना चाहते हैं कि साधारण रेडियोधर्मी विहीन सीसे की उपस्थिति से किसी भी गलती का भय नहीं, क्योंकि साधारण सीसे में २०४ परमाणु भार सीसे के समस्थानिक आइसोटोप का अंश मिला रहता है,

जो रेडियोधर्मी तत्त्वों के विग्रह काल में कभी नहीं पैदा होता।

इस विधि के द्वारा हम उस युग पता लगा सकते हैं, जबकि पृथ्वी ठोस रूप में परिवर्तित होना शुरू हुई। गणना के अनुसार यह काल १५००० लाख से १८००० लाख तक निकलता है। चट्टानों और मिट्टी के अन्दर पायी जाने वाली पथराई अस्थियों का समय भी इससे निकाला जा सकता है।

  

आजकल इसकी कल्पना करना कठिन है कि विकास किस प्रकार प्रारम्भ हुआ? क्या कोई प्रारम्भिक जीवकोष था अथवा धूमिल वातावरण से जीवकोषों का निर्माण हुआ, यह सब हम नहीं जानते। श्वाँ (Schwamm) और उनके बाद के जीवशास्त्रियों का मत है कि समस्त जीवित पदार्थ जीवकोषों से निर्मित हैं। लेकिन कुछ जीवित पदार्थ जीवकोषों में विभक्त नहीं होते। उदाहरण के लिए एक का वजन तो आधा सेर तक का है। ये जीव आज भी पाये जाते हैं और उनमें शरीर-सम्बन्धी सभी बातें, जैसे—पाचन, श्वास, गति, उत्पत्ति आदि, पायी जाती हैं।

इतर जीवों, प्राणियों और वनस्पतियों में विकास की सभी प्रारंभिक बातें एक-सी पायी जाती हैं, फिर भी प्रारम्भ से ही उन दोनों में भेद भी मिलता है। प्राणियों में महत्त्वपूर्ण द्रव-रक्त पाया जाता है और उच्च श्रेणियों के प्राणियों के रक्त में हेमोग्लोबिन नामक कण भी पाये जाते हैं, जो जीवकोषों तक आक्सिजन पहुँचाते हैं। होमोग्लोबिन का अणु बड़ा और अत्यन्त जटिल होता है। इसका अणुभार ६९ हजार है।

रासायनिक दृष्टि से हेमोग्लोबिन वनस्पति वर्ग में पाये जाने वाले क्लोरोफिल नामक पदार्थ (अणुभार ९०४) से बहुत मिलता है। हेमोग्लोबिन में लौह के परमाणु पाये जाते हैं, जबकि क्लोरोफिल में मैग्नेशियम पाया जाता है।

एक रासायनिक पदार्थ से दूसरे में परिवर्तन किस प्रकार हुआ? सत्य तो यह है कि हमारे लिए इसकी कल्पना करना सम्भव नहीं। अकस्मात् परिवर्तन की मान्यता भी सतोषजनक नहीं है। इस परिवर्तन में कोई संक्रमणकालीन अवस्था अवश्य रही होगी, जिसे हम नहीं जानते।

इसकी कोई सम्भावना नहीं कि हम करोड़ों वर्ष पूर्व के प्रारम्भिक जीव को अथवा उसके किसी अन्य रूप को खोज निकालेंगे। हमें सब जगह विचित्र रूप मिलते हैं, उनका वनस्पति अथवा जीवजगत् में वर्गीकरण असम्भव है, जब तक कि हम क्लोरोफिल से मैग्नेशियम को अलग न कर दें। इन प्रारम्भिक रूपों में

हमें ऐसे जीव भी मिलते हैं, जो आँखों से नहीं देखे जा सकते। उन्हें केवल सूक्ष्मवीक्षग यन्त्र की सहायता से ही देखा जा सकता है। वे बड़ी तेजी से तैरते हैं और अपनी लम्बी पूँछ की सहायता से घूम और कूद सकते हैं। उनका शरीर चपटा होता है, जिनपर लाल विन्दु होता है। इनके महत्त्वपूर्ण भेद पाये जाते हैं।

'डिनोफ्लैगेलेट' वनस्पति हैं अथवा जीव? उस अवस्था में इस प्रश्न का कोई अर्थ नहीं है। वे सूक्ष्म छिद्रवाले एकाकी 'मोनोसेलुलर' हैं, जिनमें जालीदार जीवाणुओं द्वारा अत्यन्त जटिलतापूर्वक रक्षित 'क्लोरोफिल' रहती है। अन्य अधिक विकसित वनस्पतियों की भाँति इनका भी भोजन पानी में मिले हुए खनिज पदार्थ तथा वायुमंडल की वायु है। क्या 'क्लोरोफिल' की उपस्थिति बहुत पहले के विकास की ओर संकेत करती है? यह सम्भव है, क्योंकि हम कुछ ऐसे 'ऐल्गे' अविकसित वनस्पतियों को जानते हैं, जिनमें 'क्लोरोफिल' नहीं होती, बल्कि एक दूसरा रंगीन पदार्थ होता है। सच्चे आदि विकास का वर्णन करना तो असम्भव है।

कुछ लेखकों के मत के अनुसार पानी में पाया जाने वाला क्षुद्र कीटाणु प्राचीनतम है। यह डंडे के समान लम्बा होता है और मीठे समुद्री पानी में रहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह कीटाणु खत्म नहीं हुआ और न दूसरे का विकास हुआ। इसके वंशज ऐसी मिट्टी में पाये जाते हैं, जहाँ से लोहा निकलता है। यह लेप्टोथ्रिक्स है और इसकी कहानी डोनाल्ड कलरास पीटी ने अच्छी तरह लिखी है।

ज्ञान की हमारी वर्तमान अवस्था में यह कहना असम्भव है कि अमुक जीव की उत्पत्ति अमुक जीव से हुई, इत्यादि। हम इतना ही कह सकते हैं कि क्षुद्र वनस्पति के अस्तित्त्व मे आने के पूर्व अनेकों घटनाएँ घटी होंगी। ये वनस्पतियाँ आज भी पायी जाती हैं। कुछ मे 'क्लोरोफिल' नहीं होता। ये वनस्पनियाँ अपने गोलाकार अथवा लम्बाकार रूप मे कीटाणुओं से मिलती-जुलती हैं। उनकी रचना अमैथुनी है। उनमे जीव केन्द्र (Nucleus) पाया जाता है। पानी के सम्पर्क मे इनका विकास हुआ और उनमे मैथुनी उत्पत्ति प्रारम्भ हुई। हरी क्षुद्र वनस्पति और जीवकेन्द्र वाली नीली वनस्पति मे क्या सम्बन्ध है, यह कहना मुश्किल है, फिर भी उनमे बड़ा अन्तर है। एक से दूसरे का विकास किस प्रकार हुआ, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। यह विकास बड़ा महत्त्वपूर्ण है। अमैथुनी उत्पत्ति वाली बहुत-सी वनस्पतियाँ और जीव पाये जाते हैं, जिनमें समान विशेषताएँ मिलती हैं। जीव अपने स्वयं को दो जीवो मे विभक्त कर

बढ़ता है; और फिर स्वय को दो जीवों मे विभक्त करता है। दुर्घटना को छोड़ कर वे कभी नहीं मरते। उनकी जनसख्या इस प्रकार बढ़ती ही रहती है। यदि प्रबल दुर्घटनाएँ उनकी रोकथाम न करें, तो सारी पृथ्वी पर वे छा जाँय। यह तर्क-सगत प्रतीत होता है कि विकास-क्रम विभिन्न वातावरणों और वंशानुगत तत्त्वों के मिश्रण से अति शीघ्र हुआ। अमैथुनी जीवों में मृत्यु नहीं होती, वे अमर हैं। अकस्मात् मैथुनी सृष्टि के अस्तित्व मे आ जाने से हम एक अभूतपूर्व घटना देखते हैं—जीवों का जन्म और मरण। इस प्रकार यह एक ऐसा विकास था, जिसने व्यक्ति की अमरता को समाप्त कर दिया। स्पष्ट है कि मैथुनी सृष्टि एक जटिल विकास था। उसका सरलीकरण अनिवार्य था, जिससे वंशानुगत परम्परा के तत्त्व परिपक्व हो सके। यह बहुत बड़ी क्रान्ति थी उतनी ही महत्त्वपूर्ण, जितनी कि स्तनधारी जीवों के आने से हुई। शारीरिक विकास एक अवस्था के बाद केवल विशेष व्यक्तियों द्वारा ही आगे बढ़ता है। विकास मे व्यक्ति का यह महत्त्व बड़ा मौलिक है और जीवित पदार्थ तथा जीवन के बीच एक विभाजक रेखा खींचता है।

विकसित प्राणियों मे एक समय के बाद मृत्यु का होना विभिन्न जीवों मे विभिन्न रूप में मिलता है। एक अथवा अनेक व्यक्तियों में जीवन भर कर वह उसी अजीव जगत् मे लौट जाता है, जहाँ से उसका विकास चमत्कारपूर्वक हुआ था। विकास के दृष्टिकोण से हम कह सकते हैं कि प्रकृति का सबसे बड़ा आविष्कार मृत्यु है।

इसके बाद से प्रगतिशील विकास व्यक्तियों द्वारा ही विकसित हुआ, उसी प्रकार जैसे विभिन्न स्वरों के मेल से एक मधुर सगीत उत्पन्न होता है और शून्य मे खो जाने पर भी वह अपनी स्मृति छोड़ जाता है। व्यक्तियों के ही कारण शारीरिक विकास सभव हुआ। भविष्य में इस विकास की आत्मा को मनोवैज्ञानिक व्यक्ति परिपक्व करेगा। मृत्यु के आविष्कार से विकास में सख्या का प्रश्न समाप्त हो जाता है, जो अजीव जगत् की प्रमुख विशेषता है। इसने ही मानव-स्वतन्त्रता के लिए मार्ग खोल दिया।

पिछले और आगामी पृष्ठों मे जहॉ जहॉ अवधि या आयु के ऑकड़े आये हैं, वहॉ महत्त्वपूर्ण व्याख्या की आवश्यकता है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि विकास-युग के किसी भी ऐतिहासिक वर्णन में बड़े-बड़े प्रश्न उठाये जा सकते हैं। जब हम जीवों के आगमन अथवा उनके विकास की बात करते हैं, तब वास्तव में हम अधिकारी विद्वानों के मत को ही व्यक्त करते हैं। इसका

यह अर्थ नहीं, कि हम विकास अथवा अस्तित्व की किसी निश्चित तिथि को स्वीकार करते हैं। याद रखने की महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हमारे पास प्राचीन युग में जीवों द्वारा पत्थरों पर छोड़े गये चिह्न के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कभी-कभी ये प्राचीन चिह्न आज के जीवित जीवों द्वारा छोड़े हुए चिन्हों से मिल जाते हैं। जब ये चिह्न बहुत संख्या में होते हैं, तो उनके काल आदि के समय का निर्णय करना सरल होता है, कि अमुक युग में अमुक जाति ने अपना उच्चतम विकास किया। लेकिन इससे उस अमुक जाति के प्रथम प्राणियों के अस्तित्व में आने की कोई सूचना नहीं मिलती, जो छोटी संख्या में लाखों वर्ष पूर्व किसी अज्ञात प्रदेश में रहे होंगे अथवा किसी दुर्घटना के शिकार हो गये होंगे। प्रस्तुत तथ्यों के आधार पर विकास का इतिहास पूर्णतया सत्य तो नहीं होता, फिर भी एक संतोषजनक जानकारी देता है।

* * *

प्रिकैम्ब्रियन युग (आदि युग के पूर्व) के सम्बन्ध में चर्चा करते समय हम इस बात को न भूलें, कि यह युग समस्त विकास-काल—सूक्ष्म जीवाणु से मनुष्य तक विकसित होने में लगभग ६००० लाख वर्षों का काल—दो तिहाई समय लेता है। इस काल में बहुत महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुई होंगी। पथराई हुई हड्डियों का अध्ययन भी इसकी पुष्टि करता है। उदाहरण के लिए, हम देखते हैं कि पृथ्वी पर वनस्पति का विकास धीमी गति से होता है और किसी प्रदेश के पशुवर्ग बड़ी जल्दी विकसित हो जाते हैं। प्रिकैम्ब्रियन युग में हम प्रारंभिक वनस्पति के साथ विभिन्न प्रकार के जीवों का अस्तित्व भी पाते हैं। ये खोजें बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि इनसे पता चलता है कि प्रिकैम्ब्रियन युग की दुनिया बहुत पुरानी थी।

यदि सूक्ष्म जीवाणु-बैक्टीरिया से रेंगने वाले जीवों का विकास महत्त्वपूर्ण प्रगति है, तो रीढ़ वाले जीवों का विकास, और भी अधिक प्रगति मानी जायगी। ये बहुत ही विकसित प्राणी हैं। इस युग में किसी प्रकार की वनस्पति का पता नहीं लगता, केवल एक बहुत ही प्रारंभिक समुद्री काई का संकेत मिलता है। यदि हम वनस्पति और जीवों का एक ही उद्गम मानें तो हमें किसी मूल सूक्ष्म जीवाणु को मानना पड़ेगा, जिसमें बाद को मैग्नेशियम तत्त्वप्रधान क्लोरोफिल से हेमोसाइनिन (Hemocyanin) नामक ताम्रप्रधान—अपेक्षाकृत जटिल द्रव्य—की उत्पत्ति हुई। विकास की प्रक्रिया एक बार शुरू होने पर चलती रहती है, जबकि उसी जाति के दूसरे जीव ज्यों-के-त्यों

बने रहते हैं। इसका स्पष्टीकरण प्रारंभिक जलीय वनस्पति और उच्चतर जीवों के सह-अस्तित्व से मिलता है, जो उच्चतर जीवों के विकास-आरंभ को पृथ्वी के प्रथम युग में खींच ले जाता है।

यह निश्चित है कि जीव-जगत् का विकास वनस्पति के विकास से शीघ्र हुआ। यदि वनस्पति जीव से पहले हुई और दोनों का उद्गम एक है, तो दोनों के बीच में कोई सम्बन्ध अवश्य होना चाहिए। यह एक दूसरी समस्या है, जिसमें प्रायिकता के चलनकलन का उपयोग करना उचित न होगा। आदि युग मे कुछ मछलियो के शरीर पर हड्डियों का रक्षात्मक ढॉचा होता था। कुछ में वायु से सॉस लेने के अंग भी होते थे, इनमे गुर्दे, हृदय आदि पाया जाता था। उनमें और आजकल के जीवों की कार्यविधि में मौलिक समता पायी जाती है। यह घटना ३००० लाख वर्ष पूर्व की है, उस युग में जमीन पर न तो कोई जीव था और न वनस्पति।

जमीन पर उगने वाला पहला पौधा कनाडा के गेस्पे प्रायद्वीप में पाया गया। एक फुट ऊंचा और बिना पत्तियोंवाला यह पौधा बहुत ही निम्न कोटि का है। सर जान विलियम डासन ने इसकी खोज अस्सी वर्ष पहले की थी और इसका नाम नंगा पौधा (Psilophyton) रखा। कोर्डोनिफेरसफ्लोरा नाम का सुन्दर वृक्ष केवल पचहत्तर अथवा सौ हजार लाख वर्ष बाद पैदा हुआ था। यह सुन्दर पत्तों वाला पौधा तीस फीट की ऊँचाई का था। एक दूसरे प्रकार का पेड़ शाखाओं और पत्तियों समेत तीस फीट से अधिक ऊँचा होता था। ये बड़े-बड़े जंगल, जिन्होंने बहुत समय पूर्व सूर्यशक्ति को केन्द्रीभूत किया था, अब हमे कोयले की खानों के रूप में मिलते हैं, जिनके ऊपर लगभग समस्त आधुनिक उद्योग (कल-कारखाने) जीवित हैं। अन्त मे हम कोनीफेरा जाति के वृक्षों को पाते हैं, जिनका हमारे जंगलो मे एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये नुकीली सुईदार पत्तियों वाले होते हैं, जो अपने युग के वंशज हैं और जिनके बाद से ही रीढ़ वाले जीवो का युग आरम्भ होता है।

* * *

आजकल विकासवादी न होना प्रायः असभव-सा है। आज का मनुष्य प्रारंभिक जीव के विकास-क्रम का फल समझा जा सकता है, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि अमुक जीव मनुष्य के पुरखे थे। इसका हमारे पास कोई प्रमाण नहीं। कोई यह विश्वास नहीं करता कि मनुष्य का विकास वनमानुष से हुआ है। फिर भी यह तथ्य ठीक है कि सभी जीवित पदार्थों का एक ही उद्गम

होगा। संभव है, प्रारंभिक विकास ऐसे जीवित पदार्थों का हुआ हो, जिनमें अजीवित पदार्थ की विशेषताएँ हैं। इस अंतिम मान्यता से इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिलता, कि किस प्रकार जीवित पदार्थ उत्पन्न हुआ। हमे पूर्व विकास को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं, जिससे यह जीवित पदार्थ उत्पन्न हुआ। लुप्त प्राणिशास्त्र (Paleontology) से हमें विकास को समझने में सहायता मिलती है, इससे अधिक हमें आशा भी नहीं करनी चाहिए। किस अवस्था में पथराई अस्थियाँ लाखों वर्षों तक सुरक्षित रहती हैं, यह हम नहीं जानते। पेशियाँ और अंग किस प्रकार बने रहते हैं, इसका भी हमे ज्ञान नहीं। वायु, प्रकाश और आर्द्रता में अस्थियाँ गल जाती हैं। असाधारण संयोग से यदि कोई प्राणी दब जाय, तो धातु पदार्थों के कारण उसकी रक्षा हो जाती है और उसकी शरीररचना तथा अन्दरुनी अंगो का पता लग जाता है। चूना मिले पानी के प्रभाव से पथराना भी महत्त्वपूर्ण है। फ्रान्स में केज़ान (Cezanne) के समीप ४० लाख वर्ष पूर्व के पथराये फूल और कीड़े पाये गये हैं। अम्बर (Amber) के साथ कीड़ो के मिल जाने से ही उनकी पूरी सुरक्षा हो सकी। दो करोड़ वर्ष पूर्व के जंगलों की महत्त्वपूर्ण तहें पायी गयी हैं। इनमे रहने वाले कीड़े पथराई अवस्था में पूर्णरूप से सुरक्षित रहे और उनका किसी प्रकार का नुकसान नहीं हुआ।

प्राचीन युग की तलछट अब तक महासागरों के नीचे सुरक्षित है, जहाँ किसी का प्रवेश संभव नहीं। खानो की खुदाई करते समय कभी-कभी बड़ी आश्चर्य-जनक खोज हाथ लग जाती है। उदाहरणस्वरूप, बेल्जियम की खान में कई सौ गज नीचे एक विशेष प्रकार की २३ छिपकलियाँ मिली हैं। लेकिन इस तरह के संयोग कम ही होते हैं। उक्त कथन पशुओ द्वारा छोड़े गये पदचिन्हों के बारे में भी सही है। कुछ चिन्ह तो बावन इंच लम्बे हैं, इसीसे हम उन पशुओं की कल्पना कर सकते हैं, जिनके ये पदचिन्ह रहे होंगे। कुछ चिन्ह तो बड़े विचित्र हैं। सूर्य के प्रकाश में देखने पर ये बिलकुल तुरन्त के मालूम होते हैं और ऐसा प्रभाव छोड़ते हैं जैसा कि फ्रेम में मढ़े हुए, हड्डी के ढांचे भी नहीं छोड़ते। हम सोचने लगते है कि ये विकराल जीव १० करोड़ वर्ष पहले यहाँ विचरण करते थे, या यह कल की बात है।

लुप्त प्राणिशास्त्र द्वारा प्रस्तुत तथ्यो पर हमें गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए, मुख्यतः जबकि हम विकास के ढाँचे की रूपरेखा को निश्चित करना चाहते हैं। सामग्री बड़ी अधूरी और छिन्न-भिन्न है। हम पथराई हड्डियों के

रूप में केवल उन्हीं प्राणियों के पाने की आशा कर सकते हैं, जो अधिक संख्या मे और विस्तृत क्षेत्र में उपस्थित थे। सङ्क्रमणकालीन रूपों को हम नहीं पा सकते। सयोगवश हम अमुक जाति के किसी व्यक्ति अथवा प्रतिनिधि को भले ही पा सकते हैं। इसका उदाहरण आज मिलता है। हैटेरिया नामक छिपकली दो फीट लम्बी मिलती है, जो रीढ़ वाले जीवों के विकास-क्रम में पाँचवीं हैं। इसका युग १० करोड़ वर्ष पूर्व था। न्यूजीलेंड के उत्तरी द्वीपों में यह मिलती है। अद्भुत सयोग से यह हमारे युग तक बची रही। इसके माथे पर तीसरा नेत्र पाया जाता है। यदि इन पहाड़ी द्वीपों की खोज न हुई होती, तो हम यही निर्णय करते कि यह विशेष जीव ज्यूरसिक (Jurssic) काल में ही समाप्त हो चुका था।

अध्याय–६

पथराई अस्थियों द्वारा प्रस्तुत समस्याएँ।

साधारण व्यक्ति के लिए उच्चतर प्राणियों की शरीर-रचना बड़ी जटिल लगती है। जहाँ तक विकास का सम्बन्ध है, एक जीवात्मक कोष से शारीरिक परिवर्तन बड़ा ही विचित्र और जानकारी देने वाला है।

एक जीव-शास्त्री के लिए, जो प्रकृति का सही निरीक्षण करना जानता है, प्रकृति सदैव ही आश्चर्य का भंडार है। प्रकृति किसी भी जटिल समस्याओं के बहुत से हल करती है और लाखों वर्षों के प्रयत्न के बाद उनमे से स्थिर रह जानेवाले श्रेष्ठतम हल को पसन्द कर लेती है। विकास के इस समस्त युग में अंगों की रचना होती है, और उनमे सुधार होता है, जिसका उद्देश्य व्यक्ति के अपने वातावरण में अधिकाधिक स्वतंत्रता देना होता है।

एक जीवकोष वाले शरीर मे पाचन-प्रणाली, मस्तिष्क-संस्थान, प्रारंभिक मस्तिष्क-संस्थान और मलत्याग के अंग मिलते हैं। इस मौलिक समस्या का समाधान प्रकृति ने एक जीवकोष वाले शरीरों मे किया और आगे चलकर वही समाधान अपने उच्चतर रूप में जटिल एवं परिवर्तित जीवकोषों वाले शरीर मे भी पाया जाता है।

अपने वातावरण की अपेक्षा कोई परिष्कृत रूप यदि उच्चतर नहीं सिद्ध

होता, तो वह जाति धीरे-धीरे समाप्त हो जाती है। लगभग ५० करोड़ वर्ष पहले कैम्ब्रियन युग के अन्त में अथवा कुछ पहले विकास-प्रक्रिया की बहुत-सी संभावनाएँ थीं और जिसके फलस्वरूप अत्यन्त जटिल जीवों की उत्पत्ति हुई। उनकी शारीरिक क्रियाएँ वर्तमान प्राणियों के ही समान थीं।

विकास-गति उत्तरोत्तर उच्चतर समाधान की ओर रही, मानो प्रकृति को अपनी रचनाओं से संतोष नहीं हुआ। प्रकृति ने अनेकों प्रयत्न किये। कई जातियाँ पूर्णरूपेण पृथ्वीतल से लुप्त हो गयीं, मानो उनमें दोष था और प्रकृति ने उन्हें रचकर भारी भूल की थी। लुप्त प्राणिशास्त्र की दृष्टि से पशु-विकास-जगत् में बहुत से भागों का परस्पर सम्बन्ध विच्छिन्न है। रीढ़ वाले जीवों और पक्षियों के सम्बन्ध में हम किसी वास्तविक सम्बन्ध को नहीं जोड़ते। सम्बन्ध से हमारा तात्पर्य, दो जातियों के बीच के संक्रमणकालीन अवस्था, जैसे रीढ़ वाले जीव और पक्षी का प्रतिनिधित्व करने वाली जाति, से है। यदि किसी जीव में परस्पर सम्बन्धित किन्हीं दो विभिन्न जातियों की दोनों विशेषताएँ मिलती हैं, तो इतने ही मात्र से वह दोनों के बीच सम्बन्ध नहीं माना जा सकता, जब तक बीच की स्थिति नहीं मिलती। यही बात स्थिर तापमान वाले पक्षियों के सम्बन्ध में है। यह वातावरण की दासता से मुक्ति पाना है। श्रेष्ठ निर्माण-कार्य में दोषमुक्त विशेषतायें नहीं ठहर सकतीं। आज भी विकास की एक जटिल समस्या है। स्तनधारी जीवों के अस्तित्व में आने के पूर्व एक और रहस्यमयी समस्या है, कीड़ों (Arthropods) आदि जन्तुओं का उत्पन्न होना। इनकी पेशियाँ अंगों के अन्दर पायी जाती हैं, जो स्वयं सुरक्षित होती हैं और उनके अंगों के जोड़ बड़े ही जटिल एवं यान्त्रिक दृष्टि से संतोषजनक होते हैं। प्रकृति के इस समाधान में उसकी यांत्रिक बुद्धि-शक्ति, हम इन कीड़ों की दौड़भाग की परीक्षा करने में जान सकते हैं। दूसरा समाधान आन्तरिक अस्थियों का ढाँचा है, जिसको बनने में बहुत बड़ा समय लगा है। मछलियों में भी यह ढाँचा पाया जाता है। सिलाची नामक मछली में यह ढाँचा नहीं पाया जाता। इसका काल २० करोड़ वर्ष पूर्व है।

हमारे दृष्टिकोण से पीठ की रीढ़ वाले प्राणी का मूल्य जीव-जगत् में सबसे अधिक है, जिसकी व्याख्या अभी तक नहीं हो सकी। काफी समय तक यह धारणा थी कि इनके पूर्वज और इनका उद्गम आजकल पायी जानेवाली एम-फिओक्सस (Amphioxus) नामक आदिकालीन मछली थी। दूसरे सिद्धांत के अनुसार इनका उद्गम समुद्र में पायी जानेवाली वे मछलियाँ थीं, जिनके

सिर के चारों ओर सुरक्षा के लिए हड्डियों की थाली-सी होती थी। अमेरिका-निवासी लुप्तजीवशास्त्री डा. डब्ल्यू. के. ग्रेगरी ने इसका समर्थन किया है। वर्तमान समय मे पायी जाने वाली एमफिओक्सस मछली को वे परिवर्तित रूप मानते हैं। पथराई हड्डियों के दृष्टिकोण से अनुमान होता है कि जमीन पर रहने वाले रीढ़ की हड्डी वाले जीव, समुद्री रीढधारी जीवों से पहले हो चुके थे। कारबोनिक युग के प्रारभ में हम ऐसे जीव-समूह को पाते हैं, जो पानी और जमीन, दोनो पर ही रहते थे। इनमें से कुछ चतुष्पाद थे और कुछ, अंगविहीन साँप जैसे। कुछ ऐसे भी थे जिनकी खोपडी की हड्डी तीन फीट तक होती थी। इन जीवों की विभिन्नता अनेक पूर्वजो की ओर सकेत करती है। पश्चात्-डेवोनियन युग के जो पदचिन्ह पाये गये हैं, वे इस बात का समर्थन करते हैं, कि मछली और मेढक जाति के जीवों का आदि पूर्वज एक ही था। वह कौन था? यह हम नहीं जानने।

जल-थल-वासी जीव आरभ मे जलवासी ही होते हैं, किन्तु बड़े होने पर वे जमीन पर भी रहने लगते हैं। रेंगने वाले प्राणी केवल थल-वासी ही होते हैं। आकाश में उड़ने वाले पक्षियों के लिए एक ऐसे यन्त्र की आवश्यकता होती है, जिससे वे वायु मे साँस ले सके। इस प्रगति का इतिहास रहस्यमय है। हम ऐसी कल्पना कर सकते थे कि डेवोनियन युग की कुछ मछलियाँ वायु और जल दोनो में सास लेती रही होंगी, किन्तु बात ऐसी नहीं है; क्योंकि दक्षिण अमेरिका में इनकी कुछ जातियाँ अब भी पायी जाती हैं।

विकास की दृष्टि से किन्हीं अंगों की जटिलतायें प्रगति की सूचक नहीं। प्रकृति के हल बडे विचित्र होते हैं। आदियुग के रीढ़ वाले प्राणियों मे नेत्रों की संख्या, स्थिति और विकास विचित्र है। कीड़ों में (Arthropods) साधारण नेत्रों के अतिरिक्त दो और नेत्र होते थे। कुछ मछलियों के चार ऑखे होती थीं, दो पानी के अन्दर देखने के लिए और दो पानी के ऊपर। इस जटिलता का विकास नहीं हुआ। कुछ रेंगनेवाले प्राणियों की तीसरी ऑख उनकी खोपड़ी के ऊपर होती थी। इसका भी आगे विकास नहीं हुआ। देखने का प्रमुख यन्त्र—नेत्र—तो बना रहा, लेकिन उसके समाधानों का रूप बदलता रहा। विकास के प्रत्येक परिवर्तन का कारण कोई उद्देश्य था और मानों यही उद्देश्य विकास का कारण एवं विकास की प्रेरणा था। वे समस्त प्रयत्न, जो इस उद्देश्य की ओर अग्रसर नहीं होते थे, या तो अधूरे रह गये अथवा समाप्त हो गये। जल-थल-वासी जीव एक दूसरी समस्या उत्पन्न करते

हैं। उनके वंशज मेढक और छिपकली हैं। बिना पूंछके (Anura) और पूंछवाले (Caudata) ये जीव कार्बोनीफेरस युग के पुच्छल प्राणियों के वंशज नहीं हैं। यदि इनका सम्बन्ध आदिकालीन मछली जाति से है, तो वह मछली कौन-सी थी? और उसके बाद किन परिवर्तनो द्वारा मेंढकों का विकास हुआ? इसकी खोज नहीं की जा सकती। उत्तर कार्बोनीफेरस युग में हम प्रथम बार रेंगनेवाले प्राणियों को पाते हैं। और, उसके बाद समस्त दूसरे युग मे पृथ्वी के मीठे पानी तथा समुद्र में उनका एकछत्र राज्य था। इनकी तीनो जातियों का विकास अकस्मात् हुआ और उनका सम्बन्ध किसी भी पूर्व थलचर वासी से नहीं लगता। यही बात कछुओं के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

ऊपर के वाक्य में समस्या का महत्त्व दर्शाने के लिए हमने 'अकस्मात्' शब्द पर ज़ोर दिया है। कछुओं के अस्थिढाल का निर्माण शीघ्रता से हुआ, इसकी कोई कल्पना नहीं करता। इसके पूर्व की सक्रमणकालीन अवस्थाएँ अवश्य होनी चाहिए, लेकिन हमारे पास इस सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं। इसी प्रकार २००० लाख वर्ष पूर्व प्रथम स्तनधारी प्राणियों का अस्तित्व 'अकस्मात्' हुआ। वे कहाँ से आये? निश्चय ही उनका विकास रेंगने वाले प्राणियों से नहीं हो सकता था? वे स्वयं विकास-अवस्था में थे। जल-थल-वासी जीवो से भी उनका विकास नहीं हो सकता और मछलियों से भी नहीं। कुछ लुप्त-प्राणिशास्त्रियों का विश्वास है कि उनका सम्बन्ध 'ट्रिटीलोडन' जाति के जीवों की माध्यमिक अवस्था से प्रतीत होता है, जिसमे रेंगनेवाले और स्तनधारी दोनो जीवो की विशेषतायें थीं। कोई निश्चित निर्णय देने के पहले हमें इस सम्बन्ध में नयी खोजों की प्रतीक्षा करनी होगी।

यह कथन उचित नहीं कि १००० लाख वर्ष में बहुत कुछ हो सकता है। किसी भी घटना का प्रारंभ अवश्य होता है, भले ही वह सूक्ष्म हो। संयोग-वश एक अथवा अनेक प्रारंभ सभव हैं। उदाहरण के लिए यदि पंख के रूप में आ जाने की क्षमता रखने वाला कोई प्रारंभ विद्यमान् होता है, तो अन्ततोगत्वा वह पंख के रूप में विकसित होगा ही। यह दूसरा प्रश्न है कि उसका सम्बन्ध कीड़ो से, रेंगनेवाले प्राणियो से, पक्षियो से अथवा स्तनधारी जीवों से हो। १००० लाख वर्षों मे रेंगनेवाले प्राणियो से स्तनधारी जीवो का विकास हुआ। पहले वे नलिका के आकार के कुछ इंच लम्बे थे। कुछ कीड़े खाते थे, दूसरे नुकीले दाँतों वाले थे और माँस पर गुजारा करते थे। कुछ

भीमकाय लम्बाकार सर्प के समान अस्सी टन वजन तक के होते थे, जो अपने पैरों के नीचे दर्जनों जीवों को विना जाने कुचल डालते थे। उस समय कौन कल्पना कर सकता था कि ये ही भविष्य के निर्माता हैं। उनका स्थिर तापमान, अपेक्षाकृत अधिक विकसित मस्तिष्क तथा प्रजनन-विधि एक महत्त्वपूर्ण विकास था। लगभग ५०० लाख वर्ष पहले मगर जाति के इन भीमकाय प्राणियों का पृथ्वीतल से अकस्मात् लोप हो गया और उनके स्थान पर स्तनधारी जीवों का विकास हुआ, जो अपने विकसित अवस्था मे हमारे युग तक चल रहा है।

उत्तर कार्बोनीफेरस युग में रेंगनेवाले प्राणियों का उदय, जल-थल-वासी प्राणियों का पतन तथा विभिन्न प्रकार के कीटजन्तु आदि को हम पाते हैं। अभी तक लगभग एक हजार जातियों का वर्गीकरण हो चुका है, लेकिन उनके भूत का कोई पता नहीं। सभव है उनका विकास किसी सामान्य उद्गम से हुआ हो, तो भी हम यह नहीं जानते कि उनका विकास कब हुआ। उनमें से कुछ ऐसे जीव थे, जिनके पंख अट्ठाइस इंच तक लम्बे थे। उनका उड़ना बड़ा ही भद्दा रहा होगा। यह स्थिति ३०० अथवा ४०० लाख वर्ष पूर्व थी।

उस समय पृथ्वीतल पर एक विचित्र प्रकार की मोटी वनस्पति पायी जाती थी। वायुमंडल में आर्द्रता थी और दम घोटनेवाला-सा वातावरण था। आसमान में इतने घने और काले बादल छाये रहते थे कि सूरज लगभग कभी नहीं दिखाई देता था। कभी-कभी बरसात होती और घना कुहरा छा जाता था। भयानक तूफान निरतर आते रहते। पृथ्वी पर ज्वालामुखियों की आग बरसती थी। भस्म कर देने वाला लावा और जलती हुई गरम चट्टानें दलदलमय जमीन पर गिरतीं, जिससे भाप ही भाप उत्पन्न होती। घने काले जंगल जन्तुओं और प्राणियों से घिरे होते; परवाले बड़े-बड़े साप होते। ज्वालामुखियो का लावा समतल और घाटियों में फैल जाता। मैदानों या घाटियों मे एक भी फूल न था। इस घोर दुखदायी अवस्था के बाद पूर्ण शातिकाल आया, जो १२०० लाख वर्षों से भी अधिक रहा। इस काल में न भूकम्प होते थे और न ज्वालामुखी फूटते थे। फिर भी पृथ्वी स्थिर नहीं थी; कहीं वह ऊपर उठ जाती और कहीं नीचे धँस जाती। कहीं समुद्र बहुत आगे बढ़ जाता और कहीं पीछे हट जाता, जिससे दलदल हो जाती और बाद मे सूखने से नमक की चट्टानें बन जातीं। फिर भी ये कार्य बहुत मंदगति से और प्रगतिपथ पर हो रहे थे। इनसे सर्वव्यापी शाति को कोई क्षति नहीं पहुँची। जलवायु मंद था।

ध्रुववर्ती क्षेत्रों के अतिरिक्त ऋतुयें होती ही नहीं थीं। सब जगह तापमान लगभग एक-सा था, जैसा कि आजकल दक्षिणी समुद्रों में स्थित द्वीपों में पाया जाता है।

संभवतः यह वह काल था, जिसमें कीट-पतंगों की विचित्र प्रवृत्तियों का विकास हुआ। नुकीले पत्तों वाले वृक्षों का स्थान अब पाये जाने वाले वृक्ष ले रहे थे। उसके बाद विभिन्न प्रकार के पत्तो और फूलों वाले वृक्ष विकसित हुए। वनस्पति के इस परिवर्तन ने कीट-पतंगो को भी प्रभावित किया। ऋतुओं के अभाव में और कठोर शीत में उनका जीवन चलता रहा। वे अपने बच्चों की देखभाल करते और अनुभव प्राप्त करते रहे। उनकी गतिविधि केवल कुछ संकेतो मे सीमित थी। वही संकेत आदत के रूप में आये और समान आदतो के फल-स्वरूप उनके मस्तिष्क का विकास हुआ, जो वंशानुगत रूप में प्रवाहित होता रहा। हिमालय, आल्पूस आदि पर्वत बनने के काल में जब शीत आरंभ हुआ, तो वे अलग-अलग बँट गये, लेकिन लाखो वर्षों में निर्मित अपनी विशेषताओं को नहीं छोड़ा। कीट-पतंगों का कार्यव्यापार पहले की ही भाँति चलता रहा। जन्म से ही वे सब कुछ सीख लेते थे, शायद उन्हें पता होता था कि उनकी आयु बहुत थोड़ी है।

संक्षेप में, प्रत्येक समूह, शृंखला अथवा वंश अकस्मात् उत्पन्न हुआ, जिसका अपने मूल पूर्वजों से कोई सम्बन्ध नहीं जुड़ता। हमें न तो कोई सक्रमणकालीन रूप ही मिलते हैं और न सामान्यतया प्रमाणित रूप से हम किसी नये समूह का प्राचीन समूह से सम्बन्ध ही जोड़ पाते हैं; इसलिए समस्या यह है कि वह परि-पर्तन न्यूनाधिक अकस्मात् हुआ अथवा क्रमशः। जैसा कि हम देख चुके हैं, प्रायिकता से यह स्पष्ट हो जाता है कि वही समूह पथराई अस्थियों के रूप में पाया जा सकता है, जो बहुत समय तक विकसित होते रहें और अधिक सख्या में हो, इसलिए यदि हम किसी का उद्गम नहीं खोज पाते तो आश्चर्य की बात नहीं। इन कारणों से हम एक ही निर्णय पर पहुँचते हैं, जिसपर विचार नहीं किया गया। वह कारण यह है कि—सक्रमणकालीन रूप स्थिर नहीं होते; उनका विकास अधिक सख्या में नहीं होता और उनका प्रसार नहीं होता। उनका एक कार्य और भी है। प्रत्येक वस्तु एक उद्देश्यपूर्ति के लिए उत्पन्न होती है। अपने विकास में, उत्तरोत्तर उच्चतर अवस्था प्राप्त करती चलती हैं। सक्रमणकालीन अवस्था का महत्त्व इतना ही है कि वह अगले विकास की अवस्था में सहायक बने।

विकास की मुख्य समस्याओं पर विचार करना आवश्यक था, क्योंकि मनोवैज्ञानिक स्तर पर मनुष्य के विकास का अध्ययन करने में सुविधा होगी। इस विकास को हम सामान्य विकास-प्रक्रिया से जोड़ेंगे और उन्हीं पहलुओं की व्याख्या करेंगे, जिन्हें हम देख चुके हैं। समस्या को समझने के लिए पाठकों के सामने तथ्यों को रखना हमारे लिए आवश्यक था।

अध्याय—७

विकास का महत्त्व और उसकी प्रक्रिया।

विकास को एक उदाहरण के द्वारा अच्छी तरह समझा जा सकता है। मान लीजिए, पर्वत के ऊपर एक सरोवर है, जिसमें से विभिन्न दिशाओं में विभिन्न धाराएँ फूटती हैं। मार्ग में आनेवाली बाधाओं—पत्थर, पेड़, नाली आदि—पर ही इन धाराओं का प्रवाह-मार्ग निर्भर होता है। गुरुत्वाकर्षण के कारण समस्त धाराओं का जल ढाल की ओर बहता है। कुछ धाराएँ मिलकर बड़ी बन जाती हैं। कुछ पत्थरों की चट्टानों और दलदल में खो जाती हैं। कुछ धाराएँ तालाब बनाकर ही रुक जाती हैं। चट्टानों के बीच में आनेवाली धाराओं से झरने बन जाते हैं। विभिन्न बाधाओं का सामना करने के कारण वे धाराएँ विभिन्न रूप ग्रहण करती हैं और एक दूसरे से नहीं मिलती; फिर भी वे एक ही शक्ति और एक ही आवश्यकता से प्रेरित होकर पहाड़ की तलहटी की ओर बहती हैं।

उक्त उदाहरण और विकास की जटिल प्रक्रिया को हम समान नहीं कहते। हमारा आशय इतना ही है कि पाठक उस मौलिक कारण को समझें, जो उक्त धाराओं के सम्बन्ध में गुरुत्वशक्ति है। इसी प्रकार समस्त परिवर्तन और संक्रमणकालीन स्थितियों का कारण संयोग है। लेकिन जल की धाराएँ उन सब बाधाओं को पार करती हुई घाटी की ओर प्रवाहित होती हैं। अतः उनका उद्देश्य तो निश्चित था, लेकिन साधन नहीं।

यदि हम विकास की किसी विशेष प्रक्रिया, जो किसी धारा के अध्ययन करने के समान ही है, की बजाय विकास के मौलिक सत्य को समझने का प्रयत्न करें तो सकल्पवाद का आश्रय लिए बिना हम भटक जायेंगे। जैसा कि

हम कह चुके हैं, केवल सयोग ही विकासात्मक घटना की व्याख्या नहीं कर सकता।

विकास को स्वीकार करने के साथ-साथ हमें यह अवश्य मानना होगा कि विश्व के प्रारंभ से ही विकास एक दिशा में उत्तरोत्तर प्रगति कर रहा है। यह आपत्ति की जा सकती है कि समस्त परिवर्तनों में प्रगति नहीं पायी जाती। यह ठीक है, और इसीलिए तो हमने ऊपर के उदाहरण में गुरुत्व के समानान्तर संकल्पवाद की मान्यता पेश की, जिसके अनुसार विकास का निर्देशन हो रहा है। निस्सदेह इस प्रक्रिया मे सफलताएँ और विफलताएँ दोनों ही हैं। लक्ष्य की कल्पना कर लेने के बाद विकास के प्रारंभकाल से ही समस्त प्रयत्न की सफलता का निर्णय वातावरण करेगा। यदि कोई प्रयत्न गलत है, उद्देश्य की पूर्ति नहीं करता, तो निस्सदेह वह प्रमुख प्रवाह से कटकर अलग जा पड़ेगा और उसका अस्तित्व ही कालान्तर मे समाप्त हो जायगा। जातियो के भविष्य का प्रश्न गौण है। प्रत्येक जाति सम्पूर्ण विकास की एक शृंखला है। अनुकूल बनना और प्राकृतिक चुनाव विकास नहीं कहलाते। प्राकृतिक चुनाव अनुकूल बनने की प्रक्रिया की अपेक्षा उद्देश्य से बहुत दूर रहता है, जो उद्देश्य सभी जातियो में पाया जाता है।

इस मान्यता में और डार्विन की मान्यता में, कि योग्यतम व्यक्ति ही जीवित रहते हैं, कोई विशेष अन्तर नहीं; क्योंकि योग्यतम व्यक्ति ही परिवर्तित रूप में विकास को आगे बढ़ाते चलते हैं।

इस बात को और अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है। पुराने सिद्धांत के विपरीत हम प्राणियों के गुणों को किसी विशेष सिद्धांत से नहीं जोड़ते; बल्कि यह मानकर चलते हैं कि भौतिक, रासायनिक नियमों एवं सामान्य शारीरिक नियमों के अनुसार विभिन्न मार्गों से उद्देश्य की पूर्ति होनी चाहिए। जीवधारियों के विषय में प्रकृति ने सदा सयोग और प्रायिकता का सहारा लिया है। मछली सैकड़ों-हजारों अंडे देती है: शायद वह जानती है कि जिन परिस्थितियों में वे रखे जाते हैं, उनमें ९० प्रतिशत नष्ट हो जायेंगे।

यदि हम प्राणी के विकास और मनुष्य के मनोविज्ञान को समझना चाहते हैं, तो हम उनके शारीरिक कार्यों और विकासात्मक परिवर्तन को अलग-अलग नहीं समझ सकते।

संक्षेप मे, विकास उत्तरोत्तर प्रगतिशील भौगोलिक घटना है, जो 'अनुकूल बनने' (ला मार्क), 'प्राकृतिक चुनाव' (डार्विन), और 'अकस्मात् परिवर्तन'

(नौडिन–डेवेरी) के सयुक्त प्रक्रिया का फल है। विकास का प्रारभ धूमिल पदार्थ से हुआ, जो जीवकोष-रहित था और उसका अन्त विचारशील मनुष्य मे हुआ, जिसके पास विवेक है। वह केवल उन्हीं प्राणियों का प्रतिनिधित्व करता है, जो सृष्टि के लक्ष्य की ओर अग्रसर है। विकास तभी सार्थक है, जब हम उसे सकल्पवाद से युक्त करते हैं। यदि हम इस सत्य को स्वीकार नहीं करते, तो प्राणियों में उत्पन्न नैतिक और आध्यात्मिक गुण एक रहस्य बनकर रह जाते है। इसलिए बुद्धिमत्ता यही है कि हम उस मान्यता को अपनायें, जो हमारी आवश्यकताओ को सतोष प्रदान करती है और आशा का द्वार खोलती है। उस मान्यता को अपनाने से क्या लाभ, जो कुछ बतलाती तो है ही नहीं, उल्टा आशा के द्वार भी बन्द कर देती है?

अनुकूल बनना, प्राकृतिक चुनाव, अकस्मात् परिवर्तन वे प्रक्रियाएँ हैं, जो स्वयं प्रगतिशील नहीं। सही शब्दों मे ये सामान्य विकास के इतर कारणों को स्पष्ट नहीं करतीं। जिस प्रकार एक राज-भवन निर्माण का निर्णय नहीं करता, उसी प्रकार विकास की प्रक्रिया उसके अपने विकास-अगो को स्पष्ट नहीं करती। भवन-निर्माणकर्ता स्वय ही उस जटिल प्रक्रिया का अंग है, जिसका नियन्त्रण भौतिक, रासायनिक, शारीरिक, मानवीय और सामाजिक नियम करते हैं। भवन से उसका सम्बन्ध केवल कन्नी (Trowel) के नाते है; और उसकी दृष्टि से तो वह स्वयं कन्नी (साधन) है। उसका व्यक्तिगत जीवन महत्त्वहीन है। भवन बनाने की इच्छा करने वाला विशप—मालिक—और निर्माण-कर्ता केवल साधन मात्र हैं। यही बात विकास की प्रक्रिया के सम्बन्ध म सत्य है। प्रत्येक जीव विकास की प्रक्रिया में सहयोग तो देता है, लेकिन उनके अपने नियम विकास के सामान्य नियमों के अनुरूप नहीं होते। परमाणु जगत् के नियम परमाणुओं के रासायनिक नियमो के विपरीत होते हैं। वह अनुमान कि अमुक सम्बन्ध की खोज किसी दिन हो जायगी, केवल धारणा मात्र है।

मनुष्य को नैतिक मूल्यों की अपेक्षा विज्ञान से अधिक सतर्क रहना चाहिए, क्योंकि वैज्ञानिक अनुभव मनोवैज्ञानिक अनुभवों की अपेक्षा बहुत कम समय के हैं। विज्ञान की प्रत्येक नयी खोज पुरानी धारणा को बदलने पर विवश करती है। विज्ञान के इतिहास में परमाणु सिद्धात, गति-सिद्धात, विद्युत् का कणात्मक सिद्धात, ऊर्जा-प्रकाश, रेडियोधर्मीयता, सापेक्षवाद आदि कई क्रान्तियाँ हो चुकी हैं, जिन्होंने हमारी धारणाओं में आमूल परिवर्तन कर दिया है। विज्ञान का भविष्य सदैव ही नये सिद्धातो एवं खोजों पर निर्भर रहता है। पदार्थ-विज्ञान अभी दो

सौ वर्ष का भी नहीं है, जबकि मानव-विज्ञान की आयु पाँच हजार वर्ष की है। मनोविज्ञान मिश्र सभ्यता के उदय-काल में ही विकसित हो चुका था। दो हजार छः सौ वर्ष पूर्व ही दार्शनिकों ने मानव-विज्ञान की विशद् विवेचना की थी, जिसकी पुष्टि आज होती है। इसलिए वैज्ञानिक मूल्यों की अपेक्षा नैतिक मूल्य अधिकाधिक ठोस हैं, यद्यपि हम उन्हें गणित की भाषा में व्यक्त नहीं कर सकते।

विकास के नियम सहेतुकी (Teleological) हैं, जबकि प्रत्येक प्राणी में परिवर्तन उसके अपने वातावरण के अनुसार संतुलन की ओर प्रवाहित होता है। प्रत्येक अनुकूल बनने का परिवर्तन कुछ अंशों में संयोग पर निर्भर करता है और कुछ शारीरिक नियमों पर। कुछ नियम भौतिक विज्ञान के 'केरनॉट-क्लासियस' नियम के अपवाद हैं।

अनुकूल बनना, प्राकृतिक चुनाव, अकस्मात् परिवर्तन विकास की बड़ी ही जटिल प्रक्रिया, जैसे—वंशानुगत तत्त्वों के प्रदान की अभिव्यक्ति, मात्र हैं। ये प्रक्रियाएँ दूसरी निर्देशन-व्यवस्था के अनुसार आधारभूत विकास की अभिव्यक्ति हैं। प्राणियों में अनुकूल बनने के सभी परिणाम विचित्र हो सकते हैं, लेकिन यह निश्चित नहीं, जैसाकि अब तक यह मत था कि वे ज्यों-के-त्यों बने रहेंगे। यदि वे बने भी रहते हैं, तो विभिन्न रूप में, सामान्य विकास के पूरक बनकर। संकल्पवादियों ने सबसे बड़ी गलती यह की कि उन्होंने अपने को जातियों तक ही सीमित रखा और मुख्य विकास-प्रवाह को आँखों से ओझल कर दिया।

विकास और विकास की प्रक्रिया में ठीक वैसा ही अन्तर है—जैसा कि एक सैनिक के शरीर में घाव होने की क्रिया और उसके बावजूद भी निरतर लड़ते रहने की प्रवृत्ति में।

अनुकूल बनने की कसौटी उसकी उपयोगिता है। विभिन्न जातियों में यह सीमित रहती है। एक बार विकास की प्रक्रिया शुरू होने पर उसका कार्य निरंतर चला करता है। कभी-कभी उसके परिणाम हानिकारक भी होते हैं। विकास की कसौटी स्वतंत्रता है। जीवन के प्रारंभ-काल से ही मनुष्य बनने तक यह प्रवृत्ति पायी जाती है! जीवों की इस प्रवृत्ति पर हम आगे विचार करेंगे। हेतुसंकल्पवाद (Telefinality) की मान्यता से विकास का सिद्धांत आगे बढ़ता है और चेतना के प्रादुर्भाव तक वह प्रेरक शक्ति बना रहा। उसके द्वारा ही जीव नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से पूर्णता की ओर अग्रसर हो रहा है।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हेतुसंकल्पवाद की शक्ति अजीव जगत् पर अपना सीधा प्रभाव डालती है और उसमें गतिशीलता उत्पन्न होती है, जो जड़ पदार्थों मे संभव नहीं।

मानव-विकास की शाखा दूसरी शाखाओं से प्रथम तो शारीरिक रूप में चेतना उत्पन्न होने तक अलग हुई, और दूसरे नैतिक आदर्शों की दृष्टि से भी वह औरों से भिन्न हुई। यह वह खाई है जो मनुष्य को पशु-जगत् से अलग करती है।

मनुष्य से इतर जो दूसरे जीव पृथ्वी पर रहते हैं, वे विकास की प्रक्रिया मे पीछे छूट गये। कुछ अपेक्षाकृत स्थिर रूप ले चुके हैं, और कुछ अब भी परिवर्तन की मध्यम गति मे हैं, अथवा ह्रासोन्मुख प्रक्रिया में हैं। समस्त जीव श्रेष्ठ रूप में अपने को अनुकूल बनाने का प्रयत्न करते हैं। यदि उनका प्रयत्न असफल रहता है अथवा बाह्य वातावरण में परिवर्तन होता है, तो वे जीवन की आशा छोड़कर संघर्ष में लग जाते हैं।

भौतिक, रासायनिक एवं शारीरिक दृष्टि से प्रत्येक जीव स्वयं को अनुकूल बनाने में लगा रहता है। यह प्रवृत्ति, अजीव जगत् की भाँति, संतुलन अवस्था की अभिव्यक्ति है। अजीव जगत में भी शक्तियों की असतुलन-अवस्था सतुलन की ओर प्रवाहित होती है। अपने वातावरण की अपेक्षा जीवों की प्रवृत्ति को हम भाषा अथवा किन्हीं चिन्हों में व्यक्त नहीं कर सकते, और इसमे भी संदेह है कि कभी ऐसा कर पायेंगे।

व्यक्ति प्रायः विकसित नहीं होता, किन्तु अपने को अनुकूल बनाने के लिए विवश होता है। इसके कारण वह समस्त जाति पर अपना प्रभाव डालता है। हजारों में से एक या कुछ ही (वह भी आवश्यक नहीं) अपने को उच्चतर स्थिति में लाने में समर्थ हो पाते हैं। यदि वे परीक्षा में सफल होते हैं, तो जाति आगे बढ़ जाती है। अकस्मात् परिवर्तन के तत्त्व, अनुकूल बनने की प्रवृत्ति और प्राकृतिक चुनाव के स्तरों से गुजरता हुआ विकास आगे बढ़ता रहता है। सतुलन स्थापित होने के बाद ही प्राणी का विकासात्मक परिवर्तन रुक जाता है और उस समय तक रुका रहता है जब तक कि बाह्य परिस्थितियों में गम्भीर परिवर्तन न हो जाय। अजीव पदार्थ-जगत् में भी यह संतुलन-प्रक्रिया पायी जाती है और इसे गणित की भाषा में व्यक्त किया जा चुका है। यहाँ सतुलन की अवस्था उच्चतम प्राविकता का रूप होती है (बोल्ट्समान)।

अनुकूल पूर्णता के प्राप्त होते ही प्राणियों में परिवर्तन की प्रक्रिया रुक

जाती है, जब तक कि बाह्य परिस्थितियों में बाह्य परिवर्तन नहीं होता। तब तदनुरूप पूर्व संतुलन अवस्था के स्थान पर नये स्तर के अनुकूल बनने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रवाह में हजारों शताब्दियों से असख्य शाखा-प्रशाखायें उत्पन्न हुई और लुप्त हो गयीं। पृथ्वी पर जीव का अस्तित्व आना ही एक श्रेष्ठतम अनुकूल बनने का परिणाम था।

जीव के अकेले एक गुण ने कभी संतुलन अवस्था प्राप्त नहीं की; फिर भी वह जीवित रहा। इस परम्परा का अंतिम रूप मनुष्य है। जैसा कि लामार्क और उसके अनुयायियों का विश्वास है, पूर्ण रूप से अनुकूल बनना प्रकृति का ध्येय कभी नहीं था। यह एक साधन-मात्र मालूम देता है, जिससे असख्य प्रकार वाले व्यक्तियों का विकास हुआ।

'प्राग् कैम्ब्रियन' युग के कीड़ो में और आज के पाये जानेवाले कीड़ों मे अधिक भेद नहीं। उनकी अनुकूलता मनुष्य से भी ऊँची है। संतुलन अवस्था प्राप्त कर लेने के बाद बाह्य वातावरण में न्यूनाधिक परिवर्तन होते रहने के बावजूद भी उनमें पिछले करोड़ो वर्षों से परिवर्तन नहीं हुआ। हाँ, इनकी एक जाति का विकास हुआ, क्योंकि उसमें असतुलन के कुछ गुण थे। उनके इस परिवर्तन को हम रचनात्मक असतुलन कह सकते हैं। वैसे तो असंतुलनता स्वयं रचनात्मक नहीं; लेकिन वह विकास की एक प्रेरक शक्ति है। संभव है, 'प्राग्-कैम्ब्रियन' युग का यही जन्तु, जो अपेक्षाकृत कम पूर्ण है, हमारा आदि वंशज हो।

इसलिए हम देखते हैं, कि जिस जीव का विकास होता है, वह वातावरण की अनुकूलता की दृष्टि से सर्वोत्तम नहीं है। उसकी अनुकूलतम स्थिति ही उसके नाश का कारण बनती है। ऐसे जीवो का कार्य केवल न्यूनाधिक स्थिर जीवों को उत्पन्न करने का रहता है, जिनसे पृथ्वी भर जाती है। अनुकूलता और वंशानुगत विशेषतायें विकास में सहायक नहीं होतीं। इनका तो परिवर्तन होता ही है, चाहे सूक्ष्म हो या विकराल या पीछे की ओर। ये जीवित पदार्थ के गुणविशेष हैं, जो सतुलन अवस्था एवं स्थिरता की ओर प्रवाहित होते हैं।

पाठकों से पुनरावृत्ति की क्षमा माँगते हुए हम एक बार फिर अपनी बातों पर जोर देना चाहते हैं:—अनुकूल बनने की प्रवृत्ति संतुलन अवस्था को जन्म देती है, जो उसे ही ह्रास की ओर ले जाती है, जबकि विकास केवल गतिमान् अवस्थाओं में ही संभव है। विकास एक अनस्थिरता से दूसरी

अनस्थिरता में होता है और पूर्ण अनुकूलता एवं स्थिरता की स्थिति उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है।

ऊपर हमने प्रथम उन कारणों को स्पष्ट किया, जिनके कारण जातियों में परस्पर विरोध और विभिन्नता दिखाई देती है। दूसरी ओर हमने यह भी स्पष्ट किया, कि पूर्णरूपेण संतुलन अवस्था एक आदर्श अनुकूलता है, जो उच्चतर प्राणियों के अतिरिक्त इतर प्राणियों में नाम-मात्र को ही मिलती है। कुछ प्राणियों में असंतुलन अवस्था प्रायः धीरे-धीरे समाप्त हो जाती है और वे समाप्त हो जाते हैं। अन्यथा यह समझना मुश्किल होता, कि प्राणिवर्ग पिछले लाखों वर्षों में किस प्रकार परिवर्तनशील वातावरण में रहते आये। जातियों के निर्माण का गुण बहुत काल पहले समाप्त हो चुका है। केवल मनुष्य को छोड़कर इतर प्राणिजगत् में परिवर्तन शारीरिक विशेषताओं की ओर प्रवाहित हो रहा है। परिवर्तन के सम्बन्ध में उक्त दृष्टिकोण, लामार्क और डार्विन के विरोधों को समाप्त कर देता है। भौगोलिक परिवर्तन होते ही योग्यतम प्राणियों को उनका सामना करना पड़ता है। उनकी श्रेष्ठता निरर्थक, दुखदायी अथवा हानिकारक रूपों में बदल जाती है। अनुकूल बनने की प्रवृत्ति इस विरोध को सम करने में लग जाती है और प्राकृतिक चुनाव उन्हें समाप्त करने का कार्य शुरू कर देता है, जिनकी उसने पहले रक्षा की थी। इन अवस्थाओं में अनुकूलता प्रगतिशील नहीं होती, बल्कि रक्षात्मक रूप ले लेती है। विकास के प्रवाह में यह अत्यन्त स्वाभाविक है।

कभी-कभी ऐसा होता है कि पहले के परिवर्तन अपने वातावरण में इतने महत्त्वपूर्ण हो चुके होते हैं, कि अनुकूलता और प्राकृतिक चुनाव की प्रक्रिया नये परिवर्तित वातावरण में उन्हें बदल नहीं पाती। ऐसी स्थिति में धर्म-संकट पैदा हो जाता है, क्योंकि प्राणियों को अनुकूल बनने के लिए समय बहुत थोड़ा रहता है, और इस प्रकार पूर्व की विशेषताएँ खतरनाक बन जाती हैं। उदाहरण के लिए उत्तरी साइबेरिया के बारहसिंगे को लें। बर्फीले युग में वे ध्रुव के बर्फीले मैदानों के विस्तार के कारण वृक्षहीन टुन्ड्रा प्रदेशों की ओर बढ़ आये, जो दक्षिण के घने जंगलों से घिरे थे। इन जंगलों में बारहसिंगों के सींग उनके प्राणलेवा बन गये और वे समाप्त हो गये।

हेतुसंकल्पवाद की दृष्टि से हजारों उपेक्षणीय घटनाओं में से यह एक साधारण घटना थी। उसका महत्त्व नगण्य है। ये प्राणी विकास में कोई भाग नहीं लेते और केवल उस धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो बहुत पहले विनाशोन्मुख

धारा से अलग जा पड़ी थी। किंतु विकासवाद के विरोधी विकास के विपरीत उक्त बातों को उत्तरहीन तर्क मान लेते हैं।

जब नयी परिस्थितियाँ प्राणियों के अस्तित्व के लिए खतरा बन कर नहीं उपस्थित होतीं, और समय अधिक होता है, तो प्राणी धीरे-धीरे पूर्वकालीन अपनी कुछ शरीरगत विशेषताओं को त्यागने लगते हैं, उदाहरण के लिए छछूंदरों की नेत्रज्योति का कम होना और बहुत अधिक गहराई में रहने वाली मछलियों का अंधा होना। यदि अनुकूलता को स्वतंत्र छोड़ दिया जाय, तो वह विवेकहीन होकर कार्य करती है, ठीक उसी प्रकार, जैसे कि चालक-रहित वायुयान कुछ देर उड़ने के पश्चात् अंत में धरती से टकराकर चूर-चूर हो जाता है।

विकास निरंतर उपयोगी असमान अवस्था की खोज में रहता है, जो अपनी सक्रमणकालीन अवस्था मे कम अनुकूल जीवों का निर्माण करता है, लेकिन इनकी सख्या के कम होते हुए भी इनमें विकास के गुण अकसर पाये जाते हैं। 'अकसर' शब्द का उपयोग जानबूझकर किया गया है, क्योंकि कुछ संक्रमण-कालीन अवस्थाओं से किसी महत्त्वपूर्ण विकास में सहायता नहीं मिलती। इसी-लिए हमने कहा कि विकास, हजारों लाखों प्राणियों में, अकस्मात् परिवर्तन-योग्य व्यक्तियो में अधिकाधिक स्वतंत्रता के लिए उच्चतर स्तर पर होता है। यदि हम एक जीवकोष से अब तक के विकास को देखें तो जीवो में स्वतंत्रता की वृद्धि पायेंगे—गति की स्वतंत्रता, वातावरण की स्वतंत्रता (माध्यम, तापमान, खाद्य इत्यादि), दूसरे प्राणियों द्वारा होनेवाले खतरे से स्वतंत्रता, चलने या खोदते समय हाथ चलाने की आवश्यकता से स्वतंत्रता, समय की स्वतंत्रता (भाषण और परम्परा के द्वारा) और अन्त में चेतना की स्वतंत्रता।

विकासोन्मुख रूप की स्थिति दूसरों की अपेक्षा बहुत कम संतोषजनक होती है। कभी-कभी लाखों-करोड़ों वर्षों तक वह उसी अवस्था में पनपता रहता है, जबकि जीवो के दूसरे रूप सख्या और आकार मे बढ़ते रहते हैं, जैसा कि हम दूसरे युग में स्तनधारी जीवों के साथ रेंगनेवाले जीवों की अत्यधिक संख्या के सम्बन्ध में कह चुके हैं। यद्यपि परिवर्तन, चुनाव और अनुकूलता से उनकी संख्या और आकार में वृद्धि अवश्य हुई, फिर भी नवजात स्तनधारी नये वाता-वरणजन्य परिस्थितियो के अधिक अनुकूल थे। इसे एक संयोग बता कर इसका विरोध किया जा सकता है, किन्तु प्रश्न यह है कि यह संयोग दस हजार लाख वर्षों तक क्यों विकसित होता रहा, जिसके फलस्वरूप मस्तिष्कधारी मनुष्य

अस्तित्व में आया। हम कह चुके हैं अनुकूलता राक्षसी जीवों को पैदा करती है और विकास मनुष्य को। मनुष्य ने भी अपने प्रयोगों द्वारा राक्षस ही पैदा किये हैं।

प्राणियों के इतिहास में 'मध्यस्थ' बड़ा खतरनाक शब्द है। यह कभी नहीं प्रमाणित हो सकता कि अमुक रूप ही बीच की वास्तविक कड़ी है। यह कभी-कभी ही सभव है, लेकिन निश्चित नहीं। किसी भी अवस्था मे यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक जीव अमुक जीव का सीधा वंशज है। मनुष्य का विकास बन्दरों से नहीं हुआ। पथराई हड्डियों मे बहुत सी सक्रमणकालीन अवस्थायें वास्तव में अनुकूलता प्राप्त करने का असफल प्रयास हैं। आस्ट्रेलिया के उन विचित्र जानवरों का उदाहरण दिया जा सकता है, जो अंडे भी देते हैं और अपने बच्चों को स्तनपान भी कराते हैं। ये प्राणी केवल परीक्षण मात्र हैं। संयोग से इनके पूर्वज ऐसे वातावरण में पैदा हुए, जिसमें वे अपने को बिना परिवर्तित किये रह सकते थे। मुख्य थलीय भागों से अलग होकर वे उपद्रवों से रक्षित हो गये और उन्होंने विकास की उस अवस्था को प्राप्त किया जिसमें वे अपेक्षाकृत स्थायी वातावरण में रह सकें। न्यूजीलैंड और आस्ट्रेलिया के पशु-प्राणियों मे अब भी प्राचीनतम विशेषताएँ पायी जाती हैं। न्यूजीलैंड पंखहीन पक्षियों के लिए प्रसिद्ध है। कुछ तो बारह फीट तक की ऊँचाई के हैं।

वास्तविक विकासोन्मुख शाखा बड़ी कोमल और दुर्बल थी, जो अपने को पूरे तौर पर अनुकूल नहीं बना सकी। इसका विकास तो शीघ्र हुआ लेकिन वह फैल नहीं सका। ठंडे खून वाले प्राणियों से गरम खून वाले प्राणियों मे विकसित होने के लिए बहुत बड़ी संख्या मे माध्यमिक प्राणियों की आवश्यकता थी। लेकिन इनकी सख्या इतनी थोडी थी, कि सयोग अपना कार्य नहीं कर सकता था। स्तनधारी प्राणीवर्ग मे घोड़ों के सम्बन्ध मे पॉच हजार लाख वर्ष पूर्व से अब तक के रूप में विकसित होने के लिए हम छः माध्यमिक सक्रमणकालीन रूपों की जानकारी प्राप्त कर चुके हैं; प्रत्येक माध्यमिक रूप की उत्पत्ति अकस्मात् हुई होगी। पथराई हड्डियों के अभाव में इन माध्यमिक रूपो के परस्पर सम्बन्धों को अभीतक स्थापित नहीं किया जा सका है। फिर भी उनका अस्तित्व अवश्य रहा होगा। जिस निरंतरता का हम संदेह करते हैं, वह तथ्यों द्वारा कभी स्थापित नहीं की जा सकेगी।

यह कोई बहुत बडी समस्या नहीं है। वास्तविक समस्याएँ जातियों के

इतिहास में नहीं आतीं। उनका स्थान तो वर्गों के इतिहास में है। बिना किसी विशेष प्रयत्न के हम एक जीवकोष वाले प्राणी से जटिल जीवकोष वाले प्राणी, अमैथुनी से मैथुनी जीवों तक, ताम्रयुक्त वाले रक्त से लौहयुक्त रक्त के विकास की कल्पना कर सकते हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं कि जहाँ तक उनका सम्बंध विकास से है, यह परिवर्तन मौलिक है और यह परिवर्तन दीर्घतम काल मे पृथ्वी के प्रारंभ मे हुए थे। प्राणियों के परिवर्तन के सम्बन्ध में हमने एक समूह की चर्चा की। बहुत से वैज्ञानिकों ने केवल इन्हीं के अस्तित्व को मानकर भूल की है। डार्विन और लामार्क के सफल सिद्धांतो की इन्होंने दुर्गति कर डाली। इन सिद्धांतों को रबर की भाँति मोड़कर दीर्घकालीन परिवर्तनों से सम्बन्धित समस्याओं पर थोप दिया। हमें यह स्वीकार कर लेना चाहिये कि ये तरीके बहुत से तथ्यों की व्याख्या करने मे असमर्थ हैं। इसी कारण ये तथ्य रहस्य बने हैं और हमारे ज्ञान-विकास के मार्ग में बाधक हैं।

जीवन प्रारंभ होने के बाद से ही यदि हम अनुकूल बनने की प्रक्रिया (जिसे हम नहीं समझते) की कल्पना करें, तो यह कहा जा सकता है कि यह मौलिक परिवर्तन अकस्मात् परिवर्तनशील जीवन से इतर जीवित पदार्थों को विकसित करने में प्रेरक रहा होगा। यदि ऐसा नहीं माना जाय, तो यह समझना मुश्किल होगा कि नयी विशेषताएँ वंशपरंपरा से किस प्रकार प्राप्त हुईं। आज हमें यह स्वीकार करना पड़ता है, कि जब से प्राणियों ने देखना शुरू किया—चाहे कैसी ही अविकसित अवस्था रही हो—तभी से उनके नेत्रों में विकास और सुधार होना शुरू हो गया। यह कार्य नेत्र बनने के बाद ही संभव था। नेत्र बनने की प्रक्रिया में मस्तिष्क के जीवकोष का नेत्रेन्द्रिय केन्द्र से सम्बन्ध स्थापित होना आदि है। देखने की प्रक्रिया और चक्षु इन्द्रिय सम्बन्धी अंगों की व्याख्या हम दृष्टि के अभाव में नहीं कर सकते। प्रकाश के किसी अंग विशेष की प्रक्रिया आँखों के लेंस, तारे और पीछे के पर्दे आदि के निर्माण की व्याख्या नहीं कर सकती। इसी प्रकार पंखों का विकास तभी सम्भव था जब उनमें उड़ने की योग्यता आयी। यह कथन, कि प्राणियों के बार-बार पहाड़ों अथवा वृक्षों से गिरने के कारण पंखों का विकास हुआ, मूल समस्या का समाधान नहीं करता। हम इस प्रक्रिया की तब तक कल्पना नहीं कर सकते, जब तक कि पंखों को दीर्घकालीन विकास का परिणाम न मान लें। लेकिन हम कल्पना ही कर सकते हैं, प्रमाण नहीं दे सकते। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रक्रिया ही हमारी बुद्धि की पकड़ के बाहर हो जाती है। प्रकृति ने जीवों को उड़ने योग्य बनाने का प्रयत्न किया और वह

सफल हो गयी। समस्या का सतोषजनक समाधान पाने में उसे एक हजार लाख वर्ष लगे होंगे। समाधान विभिन्न होते हुए भी महत्त्वपूर्ण थे। कीट-पतंग-जगत् से भी सैकड़ों उदाहरण लिए जा सकते हैं।

यदि हम हेतुसंकल्पवाद को विचार, इच्छा या उच्चतम बुद्धि के रूप मे मान कर चले, तो सयुक्त परिवर्तन पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य का उदय हुआ। जातियों मे किन्हीं विशेष परिवर्तनों को भौतिक, रासायनिक एवं सयोग के आगे मानना असभव होगा। अन्त में असख्य प्रयत्नों के फलस्वरूप वनमानुष अस्तित्व में आया। उसके बाद न जाने कितनी माध्यमिक अवस्थाओं से गुजरता हुआ पिल्टडाउन (Piltdown) मानव, जावा और पेकिंग (चीन प्रदेश) के विशालकाय वनमानुष अस्तित्व में आये। आदिमानव की अपेक्षा उनकी खोपड़ी का बडी शीघ्रता से विकास हुआ। कुछ लेखकों का मत है कि नेन्डरथल (Neanderthal) मानव, पेकिंग-मानव का वशज है, जिसका उदय कई लाख वर्ष बाद यूरोप में हुआ। वास्तव मे नेन्डरथल-मानव का उद्गम अभी तक अज्ञात है। सभवतः उसका सम्बन्ध उस शाखा से है, जिसमें लंगूर, चिंपैंजी (एक प्रकार के वनमानुष) आते हैं। सामान्य उद्गम संभवतः इससे भी पुराना है। कुछ विद्वानों के मत में तृतीय युग के प्राणियों की प्रवृत्ति मनुष्यता की ओर अधिक पायी जाती है और उनका रचना-आकार मानव-जाति के वर्तमान वनमानुषों के रचना-आकारों से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। दूसरे विद्वानों का मत है कि आदिमानव के वशजों का सम्बन्ध आलीगोसीन से था। सभवतः यही उद्गम रहा होगा, जिससे प्रशाखायें फूटी होंगी और जिसमें हम उस मानव को पाते हैं, जिसका काल चार सौ अथवा पॉच सौ लाख वर्ष पूर्व था। कुछ लेखकों का विश्वास है कि यह उद्गम और भी प्राचीन है..... इस सत्य के बारे में कोई निश्चित जानकारी नहीं।

पिथकेन्थ्रोपस (Pithecanthropus) का मस्तिष्क बडे वनमानुष से भारी है और उसका वजन भी तिगुना है। वनमानुष का उदय जावा द्वीप में हुआ, जो पेकिंग-मानव से कुछ समय पूर्व था। वे तनिक झुके हुए और सीधे चलते हैं। विकास निरतर होता रहा। यह विकास केवल मनुष्य में होता रहा। इसके बाद उसका विकास पहले की अपेक्षा भिन्न था। मनुष्य और जीवन के विकास के बीच एक भेद उपस्थित हो गया। वह इतर प्राणियों के समान होता हुआ भी उनसे भिन्न था। अपने शारीरिक गुणो और अधिकाश प्रवृत्तियों को वह अपने पूर्वजों से वसीयत में लेता चला आ रहा है। कुछ प्रवृत्तियॉ उसकी जाति-रक्षा

के लिए आवश्यक हैं; यद्यपि वह दुनियाँ में किसी अज्ञात उद्गम से दूसरी प्रवृत्तियाँ और मानवीय विचारों-भावनाओं को लाया, जो उसकी परंपरागत प्रवृत्तियों के होते हुए भी महत्त्वपूर्ण बन चुकी हैं। विकास की वर्तमान अवस्था का मौलिक आधार यही मानवीय प्रवृत्तियाँ हैं।

इसलिए यदि विकास के सिद्धांत को माना जाय, तो समस्या का स्पष्टीकरण कुछ दूसरा ही होता है और इसीलिए समस्त विकासवादी सिद्धांत मनुष्य के व्यवहार की व्याख्या करने में असमर्थ हो चुके हैं।

तीसरी पुस्तक

मानव का विकास

अध्याय–८

(क) विकास का नया युग : मानव।
(ख) बाइबिल का दूसरा अध्याय।

विकास होता रहा। प्राणी को वह आकार मिला जिसमें जीव सुरक्षित रह कर अपना विकास कर सके। इसके बाद विकास की गति प्रगति की ओर उन्मुख हो चली। पूर्ण साधन के प्राप्त होने के बाद शनैः-शनैः दूरस्थ पूर्णता के प्राप्त करने के हेतु विगत आधार छूटने लगे। विकास-युग के मध्यमावस्था-कालीन लक्षण आज भी गर्भ के विकास में पाये जाते हैं। 'शारीरिक स्मृति' से हमारा आशय शारीरिक ढाँचे की उन विशेषताओं से है, जिनका विकास हो चुका है और जिसकी वंशानुगत प्राप्ति होती है। नैसर्गिक गुणों की स्मृतियाँ भी पायी जाती हैं, जो विकासकालीन अवस्था में तत्कालीन वातावरण के फल-स्वरूप पनपी थीं।

विकास हमारे समय में भी हो रहा है। प्रस्तुत विकास का रूप शारीरिक धरातल पर नहीं, बल्कि आध्यात्मिक एवं नैतिक धरातल पर है। इस विषय-परिवर्तन के कारण अधिकाश व्यक्तियों के लिए यह तथ्य स्पष्ट नहीं है। परम्परागत पशु से मनुष्य तक का संक्रमणकाल अभी थोड़े समय का ही है। हम उसे समझने में समर्थ नहीं हैं। हम वास्तव में एक क्रांति के बीच जीवित रहे हैं। यह क्रांति विकास-स्तर की क्रांति है।

हजारों शताब्दियों तक प्रकृति के नियमों का पालन करने के पश्चात् प्राणि-विशेष के समूह ने इतर प्राणियों से शारीरिक भिन्नता प्राप्त की और नये स्तर को पाया। नये नियम लागू हुए जो परम्परागत पिछले नियमों के विपरीत

और मानव की प्रसन्नता एवं भौतिक आनन्द को प्रदान करने वाले थे। प्रश्न उठता है, कि मानव ने इस नवीन स्थिति के प्रति विद्रोह क्यों नहीं किया, जिस प्रकार जंगली घोड़े किसी बन्धन को स्वीकार नहीं करते। लेकिन मनुष्य तो दूसरे प्राणियों से भिन्नता प्राप्त कर चुका था। वह उसे स्वीकार अथवा अस्वीकार करने में स्वतंत्र था, इसीलिए वह अपने भाग्य का स्वयं निर्णायक बना। भौतिक सतोप और आध्यात्मिकता की ओर अभियान करने की स्वतंत्रता के फलस्वरूप मानवीय प्रतिष्ठा अथवा गौरव का जन्म हुआ।

सच्चे मानवीय व्यक्तित्व का जन्म वाणी के उदय के साथ होता है। यद्यपि शारीरिक गुणों में विकास होता रहा तो भी पशु-प्रतिभा और भावनाओं से भिन्न एक नवीन प्रकार की मानवीय प्रतिभा का विकास हुआ। पशु-वर्ग से भिन्नता स्थापित करने के बाद अपने उद्देश्य की ओर बढ़ने में मनुष्य को बहुत समय लगा। मानव के नये युग की सूचना प्राचीन कलाकृतियों से मिलती है। काम करने के भद्दे औजार और अग्नि के उपयोग आदि से मानव रूप में आने के दूसरे प्रमाण मिले, जो हमारी राय में अधिक प्रभावशाली हैं। वे अपने मुर्दों को गाड़ने लगे थे और कब्रिस्तान बनाते थे। अब यह भावना का प्रश्न नहीं था। यह मानव-विचार का प्रारंभिक युग था, जो मृत्यु की क्रिया के फलस्वरूप उदित हुआ। इस विद्रोह के फलस्वरूप मरे हुये व्यक्तियों के प्रति प्रेमभाव का उदय होना था और उसने इस आशा को भी जन्म दे दिया, कि मृत्यु जीवन का अन्तिम रूप नहीं (ये विचार सौन्दर्य-भावना के साथ-साथ विकसित हुए)। समतल पत्थरों को चुनकर मृत व्यक्ति के सिर की रक्षा के हेतु लगाया जाने लगा। बाद में मृत के साथ आभूषण, शस्त्र, भोजन और सुन्दरता के प्रसाधन भी रखे जाने लगे। मृत्यु की कल्पना बड़ी अप्रिय है। मृत व्यक्ति उठेगा, उसे भूख लगेगी, उसे अपनी रक्षा की जरुरत पड़ेगी, उसे वस्त्रों की आवश्यकता होगी, आदि भावनाएँ पनपीं। मृत वास्तव में मृत नहीं है, ऐसा समझा जाने लगा। यह सत्य कि व्यक्ति अपने निकटतम प्रियजनों अपने प्रशंसकों और अपने अनुयायियों के भावों में, स्मृतियों में जीवित रहता है, आगे चलकर भावना से ऊपर उच्च धरातल पर विकसित हुआ। मनुष्य ने अपने इस भाव को अपने से बाहर मृत व्यक्ति के अस्तित्व की रचना करने में किया। वह जानता है कि वह इस पृथ्वी पर अपने प्रियजन से फिर कभी न मिल सकेगा, फिर भी उसने यह मानने से अस्वीकार कर दिया कि मरे हुए व्यक्ति कहीं दूसरी जगह जीवित नहीं रह सकते। इसलिए उसने दूसरे जीवन का

आविष्कार किया। उसने एक नये संसार की रचना की, जहाँ वह एक दिन अपने बिछुड़े हुए प्रियजनों से मिल सकेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य की इस कल्पना में मृत व्यक्ति के साथ प्राणियों का प्राचीनतम गुण 'स्मृति'-व्यापक रूप से पाया जाता है। स्नेह के इस भाव ने मानवीय धारणा को आगे बढ़ाया। मनुष्य परम्परा से प्राप्त अपने पूर्वजों के समस्त गुणों का उपयोग अपने विकास में कर रहा है।

प्राणियों की महत्त्वपूर्ण विशेषता—स्मृति—आदिकालीन पशुओं में भी पायी जाती है। कुछ शरीर विज्ञान-शास्त्री इसका अस्तित्व एक जीवकोषात्मक पदार्थ में भी मानते हैं। यह निश्चित है कि इसके बिना जीवन का विकास नहीं होता। पशु-वर्ग को वनस्पति-वर्ग से अलग करने और अपनी महानता स्थापित करने का कारण स्मृति है। इसीके आधार पर भावस्थिरता (conditioned reflexes) और दूसरी भावनाओं का निर्माण सम्भव हुआ।

यह स्मृति वास्तव में विकसित मस्तिष्क की स्मृति से भिन्न है। जीवित पदार्थ की मुख्य विशेषता, क्षुब्धता, स्मृति का आधार है। इसलिए स्मृति के लिए विकसित मस्तिष्क की आवश्यकता नहीं। कीट-पतंगों की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ स्तनधारी जीवों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। फिर भी स्तनधारी जीवों में हम जटिल मस्तिष्क और अधिक प्रतिभा पाते हैं—वे अप्रत्याशित परिस्थितियों का सामना करने में समर्थ होते हैं। कीट-पतंग अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों के दास हैं। स्तनधारी जीवों में अपने विकास के द्वारा प्राप्त, प्रतिभा को व्यक्त करने की अधिक स्वतंत्रता पायी जाती है। वे अपनी मानसिक प्रवृत्तियों की रक्षा करने के साथ-साथ विभिन्न भौतिक परिस्थितियों का सामना करने के लिए नये तरीकों का आविष्कार भी करते हैं। मनुष्य को इतर स्तनधारी प्राणियों की अपेक्षा अधिक स्वतत्रता प्राप्त है। हाथों का विकास और उनके अत्यधिक प्रयोग ने उसे सीधा खड़ा आकार दे दिया। सम्भवतः यह एक प्रयत्न रहा होगा, लेकिन तुरन्त ही इस प्रयत्न के फलस्वरूप उसे जो महान् सफलताएँ है प्राप्त हुईं—वे थीं, औज़ार और अग्नि।

वाक्शक्ति, जो अंशतः निचले जबड़े की बनावट पर निर्भर करती है, का उदय बाद को हुआ होगा। उसके बाद मार्ग स्पष्ट हो गया। उद्देश्य निश्चित हुआ, और मनुष्य प्रगति-पथ पर बढ़ने लगा। इसके बाद उसका मार्ग दूसरे प्राणियों से भिन्न हो गया। वह उन पर हमेशा शासन करेगा। मनुष्य में विकास होता रहेगा और मनुष्य तथा इतर प्राणियों के बीच खाई बढ़ती रहेगी।

इस विकासोन्मुख विभिन्नता से ही हमें उसके विकास की प्रगति को नापना होगा।

मनुष्य अपनी पशु-जगत् की परम्परा से एकाएक मुक्ति नहीं पा सकता। उसकी वंश-परंपरा हजारों-लाखों वर्ष पुरानी है। उसका अपना विकास उत्तरोत्तर हुआ है।

भौतिक रासायनिक प्रक्रिया और इतर शारीरिक कार्य मनुष्य मे स्तनधारी प्राणियो के समान ही पाये जाते है। उसका शरीर उन्हीं नियमो का अनुसरण करता है। उसका मस्तिष्क नयी आशायें तो करता है, लेकिन वह अपने पूर्वजों के मस्तिष्क के जीवकोषो के अनुरूप बना है। जीवकोषों की गतिविधि का संचालन ग्रन्थियों के रासायनिक प्रभाव द्वारा संचालित होता है। उसके गले की ग्रन्थियॉ उसकी प्रतिभा-शक्ति का नियंत्रण करती हैं, जिनके शमन अथवा क्षय से साधारण व्यक्ति पागल बन सकता है। उसकी उपगल-ग्रन्थि मस्तिष्क का नियंत्रण करती है। श्लेष्मीय ग्रन्थियॉ अस्थियों का नियंत्रण करती हैं, जिन्हें अलग करने से कुछ दिनो में ही वे मृत हो जाती हैं। ठीक उसी प्रकार गुर्दे के ऊपर की ग्रन्थियॉ निकाल देने से मृत्यु कुछ घटों के अन्दर ही निश्चित है। अन्तरालीय ग्रन्थियॉ पुरुष गुण, जैसे—आवाज, बाल, आदि के विकास मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। उनका मस्तिष्क, यकृत, मासपेशियों और त्वचा पर सीधा प्रभाव पड़ता है। इतना ही नहीं, पुरुष वर्ग के नैतिक और शारीरिक शक्ति का मौलिक आधार यही ग्रंथियॉ हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य और पशुओं के शरीर का आधार भौतिक और रासायनिक है। वे खाते हैं, सोते हैं और सन्तान उत्पत्ति करते हैं। मनुष्य के लिए इससे मुक्त होना संभव नहीं। वह अपनी हजारों-लाखों वर्षों के दौरान में प्राप्त की हुई स्वतंत्रता को अपने विभेद के आधार पर ही सुरक्षित रख सकता है। अपने विकास के किसी युग में मनुष्य उक्त मौलिक विभेद से परिचित हो चुका था। यही वास्तव में धर्म, दर्शन तथा कला का आधार बना। इस विभेद की सत्ता का भान विकासकाल की महत्त्वपूर्ण घटना है। दूसरे प्राणियों की तरह, तब तक उसने उन बाह्य घटनाओं में हस्तक्षेप नहीं किया, जिन्होंने उसकी विकासोन्मुख गति का निर्देशन किया था। उस समय वह एक उत्तरदायित्वहीन, अचेतन शृंखला की कड़ी था। वह शारीरिक प्रतिक्रिया का तथा वंशगत प्रवृत्तियों का अनुभव करता था। उसकी विकसित प्रतिभा, हाथों का उपयोग, अग्नि के उपयोग, ध्वनि पैदा करने की शक्ति आदि

से वह अपना भाग्यविधाता बनने लगा। इसके बाद उसे पशुता अथवा अपने विकास का मार्ग चुनना था। चेतना के उदय तक मनुष्य अपने पूर्वजों से केवल कतिपय शारीरिक विभिन्नतायें प्राप्त कर पाया था। वह प्राकृतिक नियमों को, विकास के नियमों को स्वीकार करने के लिए विवश था और यह ठीक भी था। 'अच्छे' और 'बुरे' के बीच भेद पहचानने से ही वह पशु वर्ग की सीमा को लांघ गया। मनुष्य में यह प्रवृत्ति उसकी नैतिक भावनाओं के रूप मे परिवर्तित हुई। यह बात दूसरी जातियों मे नहीं पायी जाती। इसके साथ ही मनुष्य अपने विकासमार्ग पर और आगे बढ़ा। उसके विकास का नया युग स्पष्ट था। अब अपने विकास के लिए, इसके बाद उसे यह आवश्यक नहीं रह गया कि वह प्रकृति की हरेक बात माने। अब तो वह अपनी उन इच्छाओं की आलोचना तथा उन पर नियंत्रण करने लगा, जो पहले उसके लिए कठोर नियमस्वरूप थीं।

यहीं से मानव के संघर्षों की कहानी शुरु होती है जो आज तक चली आ रही है।

जब हम अधिकांश मनुष्यों का विचार करते हैं, तो नैतिक विचारों के अस्तित्व मे संदेह होने लगता है। नित्यप्रति के उदाहरण निराशावादी को यह सोचने के लिए विवश करते हैं कि क्या पशु और मनुष्य के बीच का भेद उतना ही गहरा है, जितना हमने समझा था! इसका उत्तर यही है कि हमने अभी मानवीय विकास के ऊषाकाल मे कदम रखा है और यदि चेतनापूर्ण लाखों मनुष्यों में से एक भी मनुष्य अपने नैतिक उत्तरदायित्व का परिचय देता है, तो इसका प्रमाण है कि एक नयी स्वतन्त्रता का जन्म हो चुका है। विकास के इतिहास में विकासोन्मुख तत्त्वों का प्रभाव चन्द व्यक्तियों अथवा व्यक्ति विशेष तक ही सीमित पाया जाता है। यही बात नैतिक आदर्शों के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। गुफा में निवास करने वाले मनुष्य की भावुकता, दया, सादगी आदि विशेषतायें आज की मनुष्यता मे निश्चय ही अंतर्निहित हैं। पहले जैसे संघर्ष अब नहीं पाये जाते। अपनी कमजोरियों के बावजूद भी लोग उन नैतिक मूल्यों को स्वीकार करते हैं, भले ही उन्हें व्यावहारिक रूप न दे सकें।

आज अधिकांश लोगों मे वे गुण नहीं पाये जाते, जो कि होने चाहिए और जबकि कोई समाजव्यापी भावना नहीं मिलती, कुछ लोग ऐसे अवश्य पाये जाते हैं, जो परिस्थितियों से विद्रोह करते हैं और वे कभी-कभी पराजित भी हो जाते हैं। मनुष्यता के इतिहास मे ऐसे बहुत-से उदाहरण हैं। अंगूर की बेलें अपने आधार के टूटने से गिर पड़ती हैं और जमीन पर पनपना शुरू

कर देती हैं, और कोई अन्य उपाय की खोज में रहती हैं। जब तक उन्हें कोई नया आधार नहीं मिलता, वे प्रकाश की ओर बढ़ती रहती हैं। इस कार्य मे कभी-कभी भूल भी हो जाती है, क्योंकि आधार के लिए उसने जिस डाल को चुना है, वह सड़ी हो सकती है; किन्तु यह उसका दोष नहीं है। मनुष्य जाति बड़े गूढ़ नियम का अनुसरण करती है। उसका उत्थान होना ही चाहिए, लेकिन यह काम बिना नेता के नहीं होता। यदि नेतृत्व गलत मार्ग पर चलता है, तो उसको चुनौती देने के लिए युग पुरुषों का जन्म होता है, जो परंपरागत पशुमय प्रवृत्तियों को चुनौती देते हैं। ये पुरुष विकास-अवस्था की श्रेष्ठतम कृति होते हैं। पशुता से ऊँचे उठने वाले मार्गों पर ले चलने का कार्य इनका ही होता है। आश्चर्य की बात है कि यद्यपि इनकी शिक्षायें सुखकर नहीं होती थीं और बलिदान चाहती थीं, फिर भी इतिहास में उन्हीं को सन्मान मिला और उनकी शिक्षायें अमर हुईं।

विकास की निरंतर प्रगति के लिए ही मनुष्य को यह नयी स्वतंत्रता मिली। शारीरिक परिपक्वता और अपेक्षित पूर्णता प्राप्त होने के बाद नये प्रयोगों की आवश्यकता समाप्त हो गयी और मनुष्य का विकास आध्यात्मिक स्तर पर प्रगति करने लगा। मनुष्य के सहयोग के बिना यह संभव भी नहीं था। विकास के युग में असंख्यों प्रयत्न हुए। कभी इन्हें सफलता मिली और कभी असफलता मिलने पर वे सब विलीन हो गये। अब विकास शारीरिक स्तर के स्थान पर मनोवैज्ञानिक स्तर पर होने लगा।

अतएव मनुष्य के लिए किसी और उच्च स्तर की प्राप्ति का प्रश्न अब समाप्त हो गया। अब तो प्रश्न मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक स्तर पर विकास करने का है। जैसा कि आरंभ से होता आया है, विकासोन्मुख प्रगति का मार्ग है— संघर्ष, प्रतिद्वन्द्विता और चुनाव।

महत्त्वपूर्ण बात यह है की हेतुसंकल्पवाद मानव-समाज की अत्यन्त प्राचीन परंपराओं में से एक परंपरा के अनुरूप बैठता है, जिसने समस्त ईसाई संसार को प्रभावित किया; वह है—बाइबिल। इसके दूसरे अध्याय की नयी व्याख्या करना आवश्यक है।

विज्ञान और धर्म के इस सम्बन्ध को समझने के पूर्व हम 'स्वतंत्रता' और 'आदेश' की उचित व्याख्या करेंगे।

विगत पृष्ठों में हम बता चुके हैं कि विकास की कसौटी स्वतंत्रता है। विकास के साथ-साथ स्वतंत्रता का विकास अनिवार्य है। इसका उदय चेतना के बाद

सम्भव था और यह स्वतंत्रता शारीरिक दृष्टि से अधिकाधिक स्वतंत्र मनुष्य को ही प्राप्त हो सकती है। अपनी इस स्वतंत्रता के बावजूद भी मनुष्य अपनी शारीरिक प्रवृत्तियों का दास है, क्योंकि वह भी उन्ही तत्वों का बना हुआ है जिनके कि अन्य प्राणी बने हुए हैं। शारीरिक दृष्टि से वह अभी भी पशु है। आगे हम देखेंगे कि यह आवश्यक था, क्योंकि अपनी प्रवृत्तियों से संघर्ष करने के कारण ही वह मानवता की ओर बढ़ सका।

पशु-प्राणियों मे स्वतंत्रता सीमित है। मछली मूंगे से अधिक स्वतंत्र है। स्तनधारी जीव, रेंगने वाले जीवों से अधिक स्वतंत्र हैं, इत्यादि, मगर ये समस्त जीव अपने शरीर की कार्यगति के ही दास हैं। उससे वे मुक्ति नहीं पा सके। उनका शरीर विकास-परम्परा की देन है, चाहे हम विज्ञान की दृष्टि से देखें अथवा बाइबिल की दृष्टि से। बाइबिल का यह कथन, कि ईश्वर ने जीवों को रहने, पैदा होने और बढ़ने का आदेश दिया—इसी तथ्य के अनुरूप है कि पशुवर्ग स्वतंत्र नहीं। ईश्वर ने जब जीवों का उनके अंग, रूप आदि मे निर्माण किया तो उनके उपयोग का भी आदेश दिया। अतएव उनके लिए पसंदगी का कोई प्रश्न नहीं। यही आदेश ईश्वर ने आदि स्त्री-पुरुष को भी दिया था (इसे चेतना-विहीन-मानव माना जा सकता है)।

यदि हम इस कथन की व्याख्या करें तो वैज्ञानिक सत्य को एक प्रतीकात्मक भाषा में लिपटा हुआ देखेंगे। इसी प्रकार बहुत से कीमियागरों (प्राचीनरसायन-विद्) ने रसायन सम्बन्धी बहुत से तथ्यों का आविष्कार किया था। बाइबिल की ही बात को हम ध्यानपूर्वक पढ़ें—

"...आठवें दिन *ईश्वर ने दूसरे जीवों को बनाया, जिनका रूप मनुष्य का था। ईश्वर ने मनुष्य की नासिका में से आत्मा फूंक दी और अच्छे-बुरे के ज्ञान के वृक्ष का फल न खाने का आदेश दिया, यह जानते हुए कि वह अवश्य खायेगा।" इस रहस्यमयी भाषा का क्या अर्थ है ?

यह उस महत्त्वपूर्ण स्थिति को सूचित करता है, जबकि विकास हो चुका था, और प्रकृति मे एक नवीन स्थिति उत्पन्न हो चुकी थी। यह चेतना के उदय

---

* बाइबिल के पहले और दूसरे अध्याय के सम्बन्ध में रूढिवादिता से लेखक परिचित है और निषेध तथा आदेश के सम्बन्ध में नयी व्याख्या की आवश्यकता को महसूस करता है।

और स्वतंत्रता की प्राप्ति की ओर इंगित करता है।

अवश्य ही ईश्वर अपना विरोध किये बिना उन्हें किसी कार्य को करने से नहीं रोक सकता था। उनका निर्माण करके और उन्हें शारीरिक नियमों के आधीन करने के बाद बिना किसी मुख्य कारण के वह उन्हें क्योंकर आदेश देता? यह ध्यान देने की बात है कि ईश्वर ने 'मनुष्य में आत्मा फूंकी और आदमी जीवित हो गया'। इसका अर्थ यह हुआ कि ईश्वर ने मनुष्य को चेतना प्रदान की और पसन्द करने की स्वतंत्रता। इसके बाद यह नया प्राणी स्वतंत्र था। उसमें इच्छाशक्ति थी कि वह चाहे तो पशु-परम्परा को स्वीकार कर ले अथवा उसके विपरीत उच्चतम मानवीय प्रतिष्ठा की ओर बढ़े। यदि वह मनुष्यता का मार्ग अपनाता है, तो पशु-मार्ग छोड़कर मनुष्यता के पथ पर प्रगति करता है और नैतिक स्तर से गुजरता हुआ आध्यात्मिक स्तर पर पहुँचता है।

बाइबिल की भाषा बड़ी ही सारगर्भित है। वह निरर्थक है, जब तक कि हम उसकी इस प्रकार व्याख्या न करें। निषेध स्वयं एक नकारात्मक आदेश है, लेकिन इसका अर्थ स्वतंत्रता है। जब अपराधी जेल के अन्दर है, तो न तो वह अपराध कर सकता है और न वह बाहर जा सकता है। यह उसके लिए असंभव है। जेल को छोड़ने के बाद वह फिर अपराध कर सकता है, क्योंकि वह स्वतंत्र है। ईश्वर अपने आदेश शब्दों में नहीं देता, बल्कि भौतिक असंभावनाओं के रूप में।

इस प्रकार यह घटना प्रथम मानवीय घटना मानी जा सकती है। आज्ञा-अवज्ञा के बावजूद भी यह मानव मानवता का आदि पुरुष बना—स्वतंत्रता का प्रसारक बना। निषेध के बावजूद भी मनुष्य अनुशासन नहीं मानता और स्वयं पाप करता चला आ रहा है। यह सामान्य दंड नहीं कहा जा सकता। इसका भावार्थ यही है कि मनुष्य अपनी पूर्णता की सीमा को नहीं पहुँच पाया। वह अपनी परंपरागत प्रवृतियों के कारण ईश्वर की आज्ञाएँ नहीं मानता। प्रत्येक मनुष्य के सामने ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है और ऐसा धर्म-संकट आता है, जिसका सामना वह अपनी पशु-प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करके ही कर सकता है। इस प्रकार वह अपने आध्यात्मिक स्तर को प्राप्त कर पूर्णता की ओर अग्रसर होगा। मानव-प्रगति ईश्वर पर आश्रित नहीं, बल्कि प्रत्येक मानव के प्रयास का फल है। मनुष्य को स्वतंत्रता और चेतना प्रदान करके ईश्वर ने अपना भार हल्का कर लिया। स्वतंत्रता वास्तविक है और ईश्वर भी उसमें हस्तक्षेप नहीं

करता। विना इसके मनुष्य विकास* और प्रगति नहीं कर सकता।

पशु प्रकृति से संघर्ष करते हैं, अपने शत्रुओं से संघर्ष करते हैं और पिछले एक करोड़ शताब्दियों के 'जीवन-संघर्ष' के बाद मानव का उदय हुआ। वह संघर्ष आज उसकी स्वयं की पशु-प्रवृत्तियों के विपरीत चल रहा है। इसीलिए तो वह अब पशु नहीं कहलाता। वह भविष्य का निर्माता और पूर्ण आध्यात्मिक पुरुष का पूर्वज है। ईसा उनमें से एक थे, जिन्होंने संघर्ष में मुक्ति पायी, जो हमें बचाने के लिए आये और जिन्होंने स्वयं का बलिदान देकर सत्य की रक्षा की।

चेतना की स्वतंत्रता पर किसी प्रकार का बन्धन विकास-नियम के विपरीत है, और दुर्भाग्य का सूचक है। यदि कुछ व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग करते हैं, तो यह उनके लिए घातक है। वे उसे समझ नहीं पाते। प्रकृति में 'संयोग' सैकड़ों-हजारों अंडों में केवल कुछ का समर्थन करता है। यह नहीं कहा जा सकता, कि उनमें से कौन बच रहेगा, क्योंकि उन्हें दूसरों से अलग नहीं किया जा सकता। मानव-समाज में सभी के लिए नैतिक विकास का अवसर होता है। यदि कोई संयोग का उपयोग नहीं कर पाता और अपना निर्णय नहीं कर पाता, तो उसका अर्थ यही है, कि वह अपना कार्य करने में असमर्थ है, अतएव ह्रासोन्मुख है। दूसरे उस उत्तरदायित्व को लेकर विकास-मार्ग पर अग्रसर होंगे।

इसलिए हम मनुष्यों को इस भुलावे से सावधान करना चाहते हैं कि समाज उनका हाथ पकड़कर आगे ले चलेगा। ऐसा करने का किसी को अधिकार नहीं। प्रगति केवल व्यक्तिगत प्रयास पर निर्भर करती है और इस प्रयास को दबाना अपराध है।

मनुष्य की समस्त इच्छा-शक्ति इस प्रयास-बिन्दु पर केन्द्रित होनी चाहिए। इसके साथ ही वह उससे आगे बढ़ने के लिए शक्ति ग्रहण करे। प्रयास की इस प्रगाढता में सच्ची मानवता के दर्शन होंगे।

सकल्पवादी भाषा में, ईश्वर ने मनुष्य को स्वतंत्रता प्रदान की, यह नैतिक और भौतिक दृष्टि से सत्य है। स्वतंत्रता केवल अधिकार नहीं, वह एक परीक्षा है। और कोई भी मानव इसका अपवाद नहीं हो सकता।

निष्कर्ष यह है कि चेतना की स्वतंत्रता तभी रचनात्मक रूप में अभिव्यक्त हो

---

* एक प्रश्न पूछा जा सकता है कि यदि ईश्वर सर्व शक्तिमान् है तो उसने प्रारंभ में ही पूर्ण मानव का निर्माण क्यों नहीं किया? अगले अध्याय में हम इसका उत्तर देंगे।

सकती है, जब मनुष्य को समस्त जानकारी हो और वह स्वतंत्रतापूर्वक अपने को अभिव्यक्त कर सके; वह अपने ज्ञान के प्रसाधन को पाने और अपने निर्णय को करने में स्वतंत्र हो। बाइविल की दृष्टि में अभिव्यक्ति को दबाना अक्षम्य है। इसलिए मनुष्य अपने स्वयं के मार्गदर्शन के लिए अपने गुणों को विकसित करने मे स्वतंत्र होना चाहिए जिससे कि उसके निर्णय सही हो सकें। जिन्हें मार्गदर्शन की आवश्यकता है, वे वास्तव में स्वतंत्र नहीं हैं। उन्हें विवश भी न करना चाहिए। बाइविल की उक्त व्याख्या हेतुसंकल्पवाद के अनुरूप ठहरती है, अन्तर केवल उद्देश्य में है। चर्च की दृष्टि मे मनुष्य को अपने पाप से मुक्त होना है और हमारी दृष्टि में यह मनुष्य के अस्तित्व के लिए आवश्यक है कि वह परंपरागत स्मृतियों से, गुणों से संघर्ष करता हुआ आगे बढ़े। 'आदिकालीन पाप' केवल पशु-प्रवृत्ति का द्योतक है, जो मानवता के लिए शर्म की बात है।

इस प्रकार विकास में मानव का उत्तरदायित्व है। प्राकृतिक चुनाव की भाँति अब उसकी स्वतंत्र पसंदगी कार्य करेगी। प्रगति की ओर कदम उठाने वाला वही है, जो अपने व्यक्तिगत भाग्य का निर्माण करे। उसका यह कार्य किस प्रकार होगा? किस प्रकार वह विकास में हिस्सा लेगा? किस प्रकार वह अपने प्राकृतिक दोषो से संघर्ष करेगा? किस प्रकार अपने श्रेष्ठतम और कमजोर उत्तरदायित्व को निभा पावेगा?

उसको अपना कार्य करने में उस तत्त्व से सहयोग मिलेगा, जिसका आरम्भ वाणी के साथ-साथ हुआ था; वह तत्त्व है : परम्परा।

अध्याय—९

(क) परम्परा—विकास की मानवीय प्रक्रिया।
(ख) व्यर्थ की 'अभिव्यक्ति'।
(ग) नैतिक भाव और अच्छे-बुरे की धारणा।
(घ) ईश्वर में विश्वास और ईश्वर का प्रतिनिधित्व।
(ङ) लक्ष्य।

मानव-विकास में, विकास के नये अस्त्र 'परम्परा' का उदय हुआ और यह अस्त्र विकासोन्मुख मानव के हाथ में है। यदि विकास का उद्देश्य केवल

भौतिक होता और दूसरे पशुओं की अपेक्षा अपेक्षित पूर्णता प्राप्त करना होता, तो विकास को आगे प्रगति करने का कोई कारण नहीं रह जाता। मनुष्य भौतिक संतुलन एवं स्वतंत्रता की अवस्था तक अपनी बुद्धि-बल की सहायता से पहुँच चुका है, जिसकी सहायता से वह अपने को किसी भी परिस्थिति में अनुकूल बना सकता है।

इसके विपरीत यदि यह अपेक्षित एवं शारीरिक पूर्णता उच्चतम विकास की मंजिल की ओर जाने में पहला कदम है, तो निश्चय ही विकास अपनी महत्त्वपूर्ण अवस्था में आ पहुँचा है।

मस्तिष्क और उसकी भावना-शक्ति ने विकास के रूप और प्रकार में परिवर्तन ला दिया। केवल तीन पीढ़ियों मे ही उसने वायु-क्षेत्र पर अधिकार कर लिया, जब कि पशुओं को वायु पर अधिकार करने के लिए लाखों वर्ष लगे। मस्तिष्क के कारण ही हमारी ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति लाखों गुणा हो गयी। चन्द्रमा को हम तीस मील की दूरी पर ले आये। हम छोटी-से-छोटी और दूर-से-दूर की वस्तुओं को देखने लग गये। हम अश्रवणीय को सुनने लग गये। हमने दूरी को छोटा कर दिया, समय को अपने अधिकार में कर लिया। हमने विश्व की अनेक शक्तियों को ठीक से समझने के पहले ही अपने नियंत्रण में कर लिया। प्रकृति के जटिल और दीर्घकालीन तरीकों को हमने उतार फेंका। प्रकृति ने ही अपनी श्रेष्ठतम कृति—मानव-मस्तिष्क—हमें प्रदान की, लेकिन विकास के नियम आज भी क्रियाशील हैं। विकास की प्रगति का उत्तरदायित्व हम पर है। यदि हम अपनी सफलताओं को ग़लत रूप में सोचते हैं, तो हम स्वयं को नष्ट करने मे स्वतंत्र हैं। प्रगति के लिए भी स्वतंत्र हैं और विकास को आगे बढ़ाने के लिए ईश्वर से सहयोग करने में भी स्वतंत्र हैं। हम यह न भूले कि हमारे नैतिक और आध्यात्मिक विकास का यह कार्य पूर्णरूपेग प्रयत्न द्वारा ही पूरा किया जा सकता है। हमारी स्वतंत्रता, जिसका हमें अभिमान है, इस बात का प्रमाग है कि हम विकास के अग्रदूत हैं। लेकिन हमें इसका प्रमाण देना होगा—व्यवहार में—कि हम इस कार्य के उस उत्तरदायित्व को निभाने के लिए तैयार हैं, जो हम पर अकस्मात् आ पड़ा है।

मानव-शरीर में किंचित् परिवर्तन तो अवश्य ही होंगे। कुछ लेखकों ने जिन्हें अपनी समालोचना का भय नहीं, निर्भयता से इन परिवर्तनों की भविष्य-वाणी भी कर दी कि भविष्य मे मनुष्य के बाल नहीं होंगे; उसकी अन्तसपुच्छ नहीं होगी और शायद दाँत भी नहीं रहेंगे...इत्यादि। यह संभव है, लेकिन

है यह विलकुल ही विषय के विपरीत। मुख्य चीज यह है कि मनुष्य का भविष्य क्या होगा और उसने संसार में जिन भावनाओं, नैतिक आदर्शों, आध्यात्मिक विचारो एवं उनकी समरसता को जन्म दिया है, उनका भविष्य क्या होगा ?

मनुष्य के आध्यात्मिक एवं बौद्धिक सुधार एवं विकास की कल्पना परम्परा के विना नहीं की जा सकती। व्यक्तियों की स्मृति, अनुभव और प्रगति-परम्पराएँ उनके वंशजो में शीघ्र और पूर्ण सामर्थ्य के साथ प्रसारित होंगी। वंशानुगत तत्त्वों के स्थिर होने में सैकड़ो शताब्दियॉ लगी हैं, तब जा कर जातियों में कुछ अनिवार्य परम्परागत गुण उत्पन्न हुए। उनका विकास सीमित था और परिस्थितियों पर निर्भर करता था। जब परिस्थितियो मे परिवर्तन हुआ तो गुणो में भी विकास हुआ। शारीरिक प्रक्रिया के सम्बन्ध में यह गति वहुत ही धीमी हो जाती है। मोटर गाड़ियों के आविष्कार के समय से अब तक सैकड़ो-हज़ारों कुत्ते, बिल्ली, मुर्गे-मुर्गिया आदि सड़कों पर कुचल कर मर गये और काफ़ी समय तक मरते रहेंगे क्योंकि उनके माता-पिता परम्परा और वाणी के अभाव मे अपने बच्चो को अपने अनुभव देने में असमर्थ रहे। वाक्शक्ति ने अनुकूल बनने के समय को बहुत छोटा कर दिया। बच्चों की शिक्षा से हम अनुकूल बनने की प्रक्रिया को छोटा करके सम्पूर्ण पीढ़ी का अनुभव प्राप्त कर लेते हैं, जो कि दूसरे पशु युगों से असंख्य बलिदानों के बाद भी नहीं कर पाते। वाक्शक्ति और परम्परा भावनाओं और विचारो को कुछ ही वर्षों मे स्थायी बना देती हैं; और यह स्थिरता अब वंशगत नहीं रह गयी। वाक्शक्ति के द्वारा प्रत्येक बात इस ढंग से हो जाती हैं, मानो समस्त अनुभव वंशगत हों।

इसीलिए हमने यह कहने का साहस किया कि परम्परा मानव-विकास की नयी प्रक्रिया है। यह इसी नयी प्रक्रिया का परिणाम है कि मनुष्य ने जो कुछ बीस हज़ार वर्षों में सीखा था, वह अब थोड़े ही समय में सीख लेता है। स्मरण-शक्ति के द्वारा सूक्ष्म बातों को वह मस्तिष्क पर अंकित कर लेता है और उन्हें वाणी द्वारा दूसरे व्यक्ति मे स्थानान्तरित कर दिया जाता है।

परम्परा की यह धारणा हमारे विचारो मे एक परिवर्तन की मांग करती है—कि विकास महत्त्वहीन हो गया। दूसरे शब्दो मे, विकास अब मानव मस्तिष्क के द्वारा सम्भव है। विकास के इतिहास से विदित होता है कि जातियो की सफलता उन नये आविष्कारों के फलस्वरूप हुई, जिन्होने अकस्मात् परिवर्तन,

अनुकूलता और प्राकृतिक चुनाव की गतिविधि ने परिवर्तन किया। जब नयी विशेषता का आविष्कार होता है, तो विकास भी उससे प्रभावित होता है। इस आविष्कार का विकास भी देखा जा सकता है, जैसे—नेत्र, कान, स्थायी ताप आदि। मनुष्य की सबसे बड़ी देन निस्सदेह उसका मस्तिष्क है, जिसमे वाक्शक्ति, प्रतिभा, सौंदर्य, नैतिक और आध्यात्मिक गतिविधियॉ रहती हैं। इसीलिए मनुष्य का विकास अब मस्तिष्क के द्वारा होगा।

हमारी इन मान्यताओ का उद्देश्य विकास की सुलभ व्याख्या करना था और यह स्पष्ट करना था कि मनुष्य प्राणियों मे सवश्रेष्ठ है। हमने विज्ञान के बहुमान्य तथ्यों को अपना आधार बनाया। हमारा उद्देश्य यह भी था कि लोग अनन्त-कालीन विकास, मानवता, बुद्धि और आध्यात्मिक भावनाओं का विकास और अन्त में नैतिक और धार्मिक सिद्धातों के मूल्यों की सुगम कल्पना कर सकें, क्योंकि इन सबका सम्बन्ध सम्पूर्ण विकास से है।

हमारी मान्यता शारीरिक विकास ही नहीं, बल्कि विचारों के विकास पर भी लागू होती है। इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता, कि मनुष्यता का सचालन विचारों की शक्ति से होता है। कुछ भावात्मक विचार हमारे भौतिक जीवन मे परिवर्तन उपस्थित करते हैं; और हमारे व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन का निर्माण करते हैं। लेकिन मनुष्य को प्रेरणा देने वाले भाव और विचार, जैसे अन्धविश्वास, इच्छाऍ, धार्मिक विचार आदि, को हम मूल कह सकते हैं। कोई भी सिद्धात यदि इनकी अवहेलना करके केवल भौतिक सम्पन्नता के प्रसाधन पर विचार करता है, तो वह सिद्धात अपूर्ण है, अनुचित है। विकास के नये तत्त्व—परम्परा—का हमने परिचय दिया, जिसका स्वाभाविक परिणाम सभ्यता है। इससे हमें सभ्यता की व्यापक सीमाएं समझने में सरलता होगी।

वास्तविक सभ्यता के कुछ अंश 'क्रो मैगनॉन' (लम्बी खोपड़ी का तथा छोटे मुँह वाला आदमी जो प्राचीन काल में आरीगनेशियन काल का प्रतीक माना जाता है) मानव में पाये जाते हैं, जिसका उदय फ्रान्स और उत्तरी स्पेन में हुआ था। हजारों वर्षों में उनके पूर्वजों ने कुल्हाड़ियों और तीरो के सिरे को चिकना करना सीख पाया था। कुछ लेखकों का मत है कि 'चिर्लायन' सभ्यता साठ हज़ार वर्ष पुरानी है, जिसमे कला-कौशल का विकास हुआ था। आदिकालीन मानव के औजार बड़े खुरदरे होते थे। इसके भी लगभग एक हज़ार वर्ष पूर्व एक बहुत ही गॅवारू सभ्यता का विकास 'इप्सविच' (इग्लैंड) में हुआ। ये खोजें बड़ी विवादास्पद हैं।

इस मत को प्रायः सभी मानते हैं कि प्राचीन 'क्रो मैगनॉन' जाति के वंशज बीस हज़ार वर्ष पूर्व थे; और प्रथम वास्तविक सभ्यता का उदय लगभग बीस हज़ार वर्ष पूर्व हुआ था। ये मनुष्य छः फ़ीट लम्बे होते थे। भूमध्य सागरीय क्षेत्रों में पाये जाने वाले आदमियों की लम्बाई छः फीट साढ़े पाँच इंच होती थी, उनके माथे ऊँचे और चौड़े होते थे; नाक सीधी होती थी और ठोड़ी उभरी हुई होती थी। उनकी खोपड़ी हमारी खोपड़ी से मजबूत होती थी। वे मनुष्य-जाति के उत्तम उदाहरण थे। यह जाति कलाविज्ञ भी थी। उनके बनाये चित्र आज भी मिलते हैं। हड्डियों और हाथी दाँत पर उनके द्वारा की गयी खुदाई, औज़ारों पर की गयी नक्काशी बड़ी सुन्दर होती थी। इस सभ्यता का काल बारह हज़ार वर्ष पूर्व है।

इसे 'व्यर्थ की अभिव्यक्ति' इसलिए कह सकते हैं कि कला-कौशल न तो जीवन के लिए आवश्यक ही है और न यह जीवन की रक्षा ही करता है। इसका महत्त्व केवल ऐतिहासिक है, जो विकास-पथ पर मनुष्य की प्रगति का सूचक है। उनमें भावात्मक, आध्यात्मिक, नैतिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक और ईश्वर-सम्बन्धी विचारक्रम मिलते हैं। दूसरे वंशागत गुण, जो जीवन को बनाये रखने और जाति को आगे बढ़ाने के लिए आवश्यक हैं, केवल संकेत मात्र हैं। यदि हम मनुष्य और पशुओं के अनिवार्य अन्तर और मौलिकता का प्रमाण चाहें तो थोड़ा बहुत मिल सकता है। पिछले हज़ारों-लाखों वर्षों में ऐसी किसी चीज का निर्माण नहीं हुआ जो आगे बढ़ती। केवल एक प्रवाह मिलता है : भूख के विरुद्ध संघर्ष, शत्रु के विरुद्ध संघर्ष, अमृत की कल्पना, सन्तान-उत्पत्ति और मृत्यु।

कीट-पतंगों में विशिष्टता की प्रवृत्ति मुख्य रूप से पायी जाती है। प्रत्येक अंग मुख्यतः विशेष कार्य की ओर संलग्न रहता है। पेट, जबड़ा और पेशियां का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रह सकता। सर्वत्र और सदैव ये विभिन्न उपयोगी अंग जातियों की रक्षा में लगे रहते हैं, भले ही कोई जाति विकास के योग्य न होने के कारण नष्ट होने की दशा में हो अथवा बहुत अधिक विकसित होनेवाली हो।

अकस्मात् स्वतंत्रता का उदय हुआ। एक नये प्राणी—मनुष्य—ने जन्म लिया। वह भौतिक, रासायनिक एवं वानस्पतिक नियमों का अपवाद बन गया। सौन्दर्य भावना का उसमें उदय हुआ, जिसका विकास उसी के हाथों होना था। भौतिक संतोष गौण बन गया। उसने अब तक विश्व को देखा भर था, लेकिन वह अब उसे समझने भी लगा। वह सोच-विचार और अनुकरण के द्वारा सीखने लगा।

सुन्दरता की भावना उसमें पैदा हुई, भिन्न प्रकार के रंगों को मिलाकर वह नये रंगों का निर्माण करने लगा। दैनिक कार्यों में आनेवाले उसके औज़ार केवल उपयोगी ही नहीं, सुन्दर भी होने चाहिए। वह उन पर नक्काशी करता है, उन्हें चमकाता है। इन सब के दो उद्देश्य हैं, एक तो जाति को आगे बढ़ाना और मानवीय विचारों की दृष्टि से सच्चे विकास में सहयोग देना। मनुष्य की सौंदर्य-भावना शीघ्र ही उच्च स्तर पर जा पहुँची। और यह एक नये युग की सूचना थी। सौंदर्य-भावना आदिकालीन ज्ञान का उद्गम, प्रतीक आदि थीं जिसमें भविष्य के विकास के कण थे।

मनुष्य शिकारी होता था। वह जंगली जानवरों को फँसाने के लिये जाल तैयार करता था। उसने जादू-मंत्रों का भी निर्माण किया और एक अवास्तविक तथा काल्पनिक जगत् की रचना की, जिसका नेतृत्व मन्त्र आदि विद्या से पूर्ण ओझा आदि के हाथ था, जिनका सन्मान और अधिकार अधिकांश लोगों ने मान्य किया था। जैसा कि हम कह चुके हैं कि इस नये संसार का कोई प्रमाण नहीं था। मृत व्यक्तियों की इच्छा और आवश्यकतायें जीवित व्यक्तियों के समान ही मान ली गयीं। वे चाहते थे, जीवित लोग उनकी मदद करें और उन्हें वे चीजें दें जिनकी उन्हें आवश्यकता पड़ती हो। मृत व्यक्तियों के सम्बन्ध में यह धारणा उनके प्रति सहानुभूति और प्यार की द्योतक थी। यह उन समस्त धारणाओं का उद्गम बनी जिनका प्रथम रूप तो अन्धविश्वासमय था, लेकिन बाद को वे धार्मिक एवं दार्शनिक रूप में स्वीकार कर ली गयीं।

मन्त्रविज्ञ लोग उस समय चिकित्सक भी थे। बीमारी की अवस्था में अथवा मृत्यु के समय उन्हें बुलाया जाता था। वहाँ वे सदैव ही महत्त्वपूर्ण स्थान पाते थे। अमरत्व की धारणा जो युगों से पनपती हुई चली आ रही है, आज भी हमारे सामने है ये विचारधाराएँ बाद को संसार के विभिन्न भागों में साथ-साथ विकसित हुईं। इसी से उनका महत्त्व देखा जा सकता है। कहीं तो मनुष्यों ने उन्हें ज्यों-का-त्यों रहने दिया और कहीं उन्हें जटिल दार्शनिक रूप दे दिया। व्यक्ति का महत्त्व एक दूसरी समस्या सामने रखता है। व्यक्तियों के विकास में भी कुछ नयी विशेषताएँ पायी जाती हैं और ये विशेषताएँ किन्हीं विशेष प्राणियों में ही विकसित होती हैं, सब में नहीं। अकस्मात् विकास सभी में एक साथ नहीं पाया जा सकता, अन्यथा वह एक साधारण गुण मात्र बन जायगा। ये विशेष-गुण-सम्पन्न कुछ व्यक्ति वास्तव में संयोगवश उत्पन्न हो जाते हैं और निष्क्रिय रूप से अपना पार्ट अदा करते हैं।

मन्त्रविज्ञ जादूगर, कलाकार, चित्रकार आदि में उच्चतर प्रतिभा पायी जाती है। वे उसका निर्माण करते हैं और योग्य शिष्य-परम्परा के हाथ सौंप जाते हैं। यही अव्यक्त विकास का तरीका है। इसीलिए ये मनुष्य वास्तव में अनायास ही विकास में सहायक बनते हैं, जबकि दूसरे मनुष्य लड़ाई-झगड़े आदि इतर दुनियादारी के झगड़ों में उलझे रहते हैं। उनकी इच्छा सन्तान पैदा करने और बच्चों की संख्या बढ़ाने की ओर ही रहती है। मन्त्रविज्ञ जादूगर उन लोगों में से योग्य शिष्य खोज लिया करते थे और इस प्रकार विकास की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखते थे। यह व्याख्या हमारी उस धारणा का समर्थन करती है कि विकास मस्तिष्क और सुदृढ़ इच्छा वाले सक्रिय मनुष्यों के सहयोग पर निर्भर है। यही बात अभी भी पायी जाती है। यह जानकर आश्चर्य हो सकता है कि मूल्य, गुण आदि सदैव से ही विकास के अंग रहे हैं।

आरम्भ में नैतिक आदर्श बहुत थोड़े थे और उन्हें पूर्ण सामाजिक मान्यता नहीं मिली थी, क्योंकि यथार्थ से समाज का तब निर्माण भी नहीं हुआ था। प्रारम्भ के नियम थे कि न तो किसी को मारना और न चोरी करना। किन्तु ज्योंही व्यक्ति और परिवार के ऊपर समाज का नियंत्रण हुआ, हम दंड-विधान का अस्तित्व देखते हैं; दूसरे शब्दों में वास्तविक समाज बनने पर देखभाल के फलस्वरूप नैतिक नियमों का विकास बड़ी तेज़ी से हुआ। छः हज़ार वर्ष पूर्व उनका अत्यन्त परिष्कृत रूप पाया जाता है। इन नियमों का अस्तित्व हम संसार के केवल छोटे से भाग–मिश्र–में पाते हैं। ये चीन में भी पाये जाते थे। इसकी जानकारी हमें बहुत ही प्राचीन पुस्तक 'टाह-होटेप' (Ptah-Hotep) से मिलती है। यह पुस्तक मिश्र के राजाओं के लिए पाँच हज़ार तीन सौ वर्ष पहिले लिखी गयी थी। इसका विवेचन करना अभीष्ट नहीं, फिर भी इसके कुछ अंश हम उद्धृत करते हैं। पहला नियम पति—परिवार का मुखिया—को सम्बोधन करते हुए कहा गया है–"यदि तू बुद्धिमान है तो अपने घर की देखभाल करेगा, तू अपनी पत्नी को खुश रखेगा, उसे वस्त्र देगा, भोजन देगा, बीमारी में उसकी देखभाल करेगा, जीवन भर उसका हृदय प्रसन्नता से भरता रहेगा...अपने नौकरों के प्रति दयालु रहेगा। जिन घरों में वे अप्रसन्न रहती हैं वहाँ शान्ति और प्रसन्नता नहीं रहतीं..."

दूसरे नियम में राजा को सम्बोन्धित किया गया है:—

"यदि तू उत्तरदायित्व लेता है तो उसके पहले पूर्ण बन। याद रख कि राज-सभा में व्यर्थ बोलने के बजाय चुप बैठना कहीं अच्छा है..." पाँच हजार

वर्ष पूर्व यह शिक्षा किसी गुरु ने दी थी। अभी न जाने कितने वर्ष और लगेंगे जब ये बातें व्यापक रूप से अमल में लायी जायेंगी।

उक्त दोनों अवतरण इस बात को बतलाते हैं कि हमने अधिक उन्नति नहीं की और सभ्यता का नैतिक स्तर वर्तमान स्तर से भिन्न नहीं था। हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि नैतिक नियम बहुत पहले से थे। शताब्दियों तक ये नैतिक नियम परंपरा के रूप में चलते रहे और प्रायः सभी सभ्य देशों में माने जाते रहे।

*अच्छे और बुरे के सम्बन्ध में पूर्ण रूप से कोई धारणा नहीं बनी थी फिर भी इनका अस्तित्व मानव चेतना के आदि रूप से पाया जाता है। हमारी मान्यता के अनुसार उक्त धारणा नवीन सभ्यता के उदय के फलस्वरूप उत्पन्न हुई होगी। धर्म के अनुसार क्रमशः अच्छे और बुरे का सम्बन्ध ईश्वर और शैतान से है। 'अच्छा' भावी जीवन की सुख शान्ति का द्योतक है और 'बुरा' दुखदायी जीवन का।

दार्शनिकों ने अपने संतोष के अनुसार अच्छे-बुरे का निर्णय सापेक्ष रूप में किया। उन्होंने कहा, जो एक देश के लिए अच्छा है, यह आवश्यक नहीं कि वह दूसरे देश के लिए भी अच्छा हो। अच्छे की परम कल्पना अर्थहीन है। सम्भवतः इन दार्शनिकों ने इस बात का ख्याल नहीं रखा कि धारणा लगभग प्रारम्भ से ही सब जगह पायी जाती है। इसीलिए उसका परम रूप में अध्ययन होना चाहिए। यह कार्य इतना सरल नहीं। अच्छे और बुरे प्रश्न की गम्भीरता देखते हुए यह आवश्यक है कि इस पर केवल धार्मिक और दार्शनिक लेखक विचार करें। दुर्भाग्यवश उनके पास वैज्ञानिक और सजीव तर्क नहीं जिनसे वे दूसरों को समझा सकें।

अधिकांश मनुष्य, जिनमें बुद्धिवादी भी शामिल हैं, समाज में नैतिक आदर्शों के अनुकूल चलते हैं क्योंकि या तो वे इसे आवश्यक समझते हैं अथवा बचपन में उन्हें इस प्रकार की शिक्षा मिली होगी। उन्हें यद्यपि अच्छे-

---

*हमने 'सापेक्ष' के स्थान पर 'पूर्ण' शब्द का प्रयोग किया है, इसे समझ लेना चाहिए। इनका उपयोग वैज्ञानिक कथन और सर्वसाधारण से स्वतंत्र सत्ता को व्यक्त करने में करते हैं। अध्यात्मवादी के लिए पूर्ण अथवा परम तो ईश्वर ही हो सकता है। इसलिए उसकी परिभाषा वैज्ञानिक स्तर से भिन्न मानी जायेगी। सेन्ट थामस के अनुसार अच्छे-बुरे की धारणा में अन्तर उतना ही है, जितना कि एक शब्द द्वारा निर्देशित विचारों के दो विभिन्न समूहों में।

बुरे की परम सत्ता में विश्वास नहीं, फिर भी उनका व्यक्तिगत जीवन अहितकर नहीं है। वे यह सोचने का कष्ट नहीं करते कि बहुत बड़ी संख्या में लोग ऐसे हैं, जिनके पास न तो आत्मविश्वास ही है और न उन्हें प्रारम्भ से शिक्षा के प्रसाधन ही उपलब्ध हुए। अधिकांश लोगों के लिए भावनात्मक, आध्यात्मिक अथवा बौद्धिक सुरक्षा की आवश्यकता है। अदालतों में अपराधी के रूप में हम छोटी-बड़ी उम्र के व्यक्तियों को खड़ा देखते हैं; वे स्वयं इसके लिए दोषी नहीं, क्योंकि उन्हें नैतिक शिक्षा नहीं मिली। यह युगों की पुरानी समस्या है, और यदि अच्छे-बुरे का अर्थ अपेक्षित रूप में लिया गया, तो समस्या का समाधान बहुत मुश्किल होगा, क्योंकि शिक्षक प्रायः दार्शनिकों और लेखकों से प्रभावित रहते हैं। ऐसे व्यक्तियो का प्रभाव कितना खतरनाक हो सकता है, इसे थोड़े लोग ही जानते हैं। ऐसे लोगों की धारणाओं का आधार कोई महान् दार्शनिक होता है, जिसकी कृतियों को वे भली भाँति नहीं पढ़ते, अथवा वैज्ञानिक होता है, जिसके बारे में उन्होंने कभी कुछ भी नहीं पढ़ा होता। वॉल्टेयर और डार्विन को अनीश्वरवादी नास्तिक समझा जाता है, पर यह सत्य नहीं। नीचे वॉल्टेयर की पुस्तक "दार्शनिक शब्दकोप" के ईश्वरवाद से कुछ अंश दिये जाते हैं।

'इससे क्या निष्कर्ष निकलता है? नास्तिकता बहुत ही खतरनाक भूत है...'

'कुछ अदार्शनिक गणितज्ञों ने 'अन्तिम कारण' को अस्वीकार किया है, जबकि सच्चे दार्शनिको ने उसे स्वीकार कर लिया। एक सुप्रसिद्ध लेखक ने एक बार कहा था—एक शिक्षक ने बच्चों से ईश्वर की बात कही और न्यूटन ने उसे प्रत्यक्ष रूप में दिखाया'...

'नास्तिकता कुछ प्रतिभा-सम्पन्न लोगों का साधन है और मूर्खों का साधन अन्धविश्वास है।

दार्शनिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि वॉल्टेयर का कथन उचित नहीं, लेकिन हमारे युग में बहुत से अमेरिकन वैज्ञानिक—जिनमें से दो शरीर-विज्ञान-शास्त्री और नोवेल पुरस्कार विजेता हैं—धार्मिक हैं। यही बात आधुनिक फ्रांसीसी दार्शनिक बर्गसो (Bergson) के सम्बन्ध में कही जा सकती है। विद्वानो को, जो प्रतिभा-सम्पन्न हैं और जिन्हें प्रारम्भ से ही शिक्षा की सुविधाएँ मिली हैं, अपने उत्तरदायित्व पर विचार करना चाहिए। अगर वह ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में अपने को न समझ पायें और उच्चतम मानवीय मूल्यों, नैतिक और आध्यात्मिक आदर्शों को नहीं

समझ पायें, तो वे स्वयं अपने से प्रश्न करें कि उनकी धारणाएँ कहाँ तक भावुक अथवा वैज्ञानिक स्तर पर आश्रित हैं, भले ही उत्तर कुछ भी हो। वे अपने से एक प्रश्न और करें, कि प्राचीन तथा समय की कसौटी पर कसे हुए मानव-आदर्श धर्म के स्थान पर वे किस चीज़ की स्थापना करना चाहते हैं। यदि उनके बुद्धिपट बन्द नहीं हुए, तो हमें आशा है कि वे सही उत्तर पायेंगे।

विगत पृष्ठों के निष्कर्ष-स्वरूप अच्छे और बुरे की काम चलाऊ परिभाषा बनायी जा सकती है। ये परिभाषाएँ विकास की मान्यताओं के समान पूर्ण नहीं हैं, और यदि हमारी व्याख्या को स्वीकार किया जाय, तो ये परिभाषाएँ मनुष्य के सम्बन्ध में पूर्ण मानी जा सकती हैं :—

अच्छा वह है, जो विकासोन्मुख मार्गों पर प्रगतिशील हो और, पशुओं से अलग, हमें स्वतंत्रता की ओर अग्रसर करने वाला हो।

बुरा वह है, जो विकासोन्मुख प्रगतिधारा का विरोधी और हमें पशुता की ओर ले जाने वाला हो।

दूसरे शब्दों में मानवीय दृष्टिकोण से अच्छा वह है जो मानवता एवं मानवीय व्यक्तित्व का सन्मान करे। और बुरा इसके विपरीत होगा।

मानवीय व्यक्तित्व के सन्मान का आधार मनुष्य का गौरव है। मनुष्य विकास का सहायक और ईश्वर द्वारा सौंपे हुए कार्य को आगे ले जाने वाला है। उसका यह महत्त्व मस्तिष्क की नयी चेतना एवं स्वतंत्र इच्छा पर निर्भर है जो विकास को आध्यात्मिक दिशा में अग्रसर करती है। उत्तरदायित्वहीन गौरव की हम कल्पना नहीं कर सकते। मनुष्य के हाथों में उसका अपना भाग्य ही नहीं बल्कि विकास का भी भाग्य है। किसी भी क्षण वह अपनी उन्नति और पतन के मार्ग को पसन्द करने के लिए स्वतंत्र है। बाइबिल के दूसरे अध्याय का यही अर्थ है।

एक बार फिर हम दुहराना चाहते हैं कि अब तक ऐसा कोई भी तथ्य या मान्यता नहीं जो जीवन के प्रारम्भ अथवा प्राकृतिक विकास का समाधान कर सके। जहाँ तक जीवन के उद्गम का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में हमने संक्षिप्त रूप से पुस्तक के पहले भाग में चर्चा की है। इच्छा अथवा अनिच्छापूर्वक या तो बाह्य हस्तक्षेप की बात स्वीकार करनी पड़ती है, जिसे हम ईश्वर-आज्ञा और वैज्ञानिक अ-संयोग कहते हैं, अथवा हम यह मानें कि इस प्रश्न के सम्बन्ध में हम कुछ नहीं जानते। यह स्वीकारोक्ति केवल विश्वास नहीं बल्कि सर्वमान्य वैज्ञानिक कथन है। हमीं नहीं, बल्कि कट्टर भौतिकवादी भी

बिना किसी प्रमाण के यह विश्वास किये चले जा रहे हैं, कि एक दिन आयेगा जब वैज्ञानिक रूप से जीवन के प्रारम्भ, विकास, मनुष्य के मस्तिष्क एवं नैतिक आदर्शों की उत्पत्ति आदि का समाधान हो सकेगा। वे यह भूल जाते हैं कि यह समाधान आधुनिक विज्ञान के रूप को ही बदल देगा और यह कि उनकी धारणाएँ भावुकता के आधार पर खड़ी है।

आज ईश्वर पर विश्वास वैसा नहीं है जैसा पहले था। एक सुप्रसिद्ध ईसाई लेखक मिगेल डी उनामनो (Miguel de Unamuno) ने बड़े सुन्दर शब्दों में लिखा है: "ईश्वर में विश्वास करना उसके अस्तित्व को स्वीकार करना है और उससे भी अधिक उसके अनुरूप कार्य करना है।"

बहुत से बुद्धिशील व्यक्तियों की धारणा है कि वे ईश्वर की कल्पना नहीं कर सकते क्योंकि वे उसका अनुमान नहीं कर पाते। वैज्ञानिक जिज्ञासा रखनेवाले व्यक्ति को ईश्वर-दर्शन करने की उत्कंठा नहीं होनी चाहिए, उसी प्रकार जैसे एक भौतिक विज्ञानी इलेक्ट्रॉन को देखने की जिज्ञासा नहीं रखता। दोनों के लिए ईश्वर या इलेक्ट्रॉन का दर्शन करने का प्रयत्न असत्य होगा। इलेक्ट्रॉन की भौतिक कल्पना नहीं की जा सकती लेकिन फिर भी उसके प्रभावों के कारण एक लकड़ी के टुकड़े की अपेक्षा हम उसे अधिक जानते हैं। यदि वास्तव में हम ईश्वर की कल्पना कर लेते तो उसमें विश्वास करने का प्रश्न ही समाप्त हो जाता और तब ईश्वर, हमारे अपने मस्तिष्क की उपज होने के कारण, शंका का विषय बन जाता। यह बात केवल मानव-ज्ञान के बारे में कही जा सकती है क्योंकि मनुष्य जीवन-सम्बन्धी समस्त कार्य-व्यापारों पर शंका करता है और अन्तर्ज्ञान तथा सहज लालसा की सत्यता और मूल्य को स्वीकार करता है। ये बुद्धिहीन सहज लालसाएँ सत्य हैं क्योंकि मनुष्य इन्हीं से सुख-शान्ति पाता है और यह ठीक है जो हमें आनंद देता है, वह असत्य नहीं हो सकता। वे हमारे गुणों, नैतिक आदर्शों और सौंदर्य-भावना की प्रेरणा हैं इसलिए उनका कारण भी अवश्य सत्य होना चाहिए, भले ही वह कल्पनातीत हो।

हमारे द्वारा निर्मित ईश्वर से ईश्वर प्रमाणित नहीं होता। वह तो हमारे उस प्रयास से सिद्ध होता है जो हम ईश्वर की कल्पना करने में करते हैं।

उसी प्रकार सद्गुण वास्तव में मनुष्य के प्रयास में है, न कि परिणाम में। आध्यात्मिक प्रयत्न वास्तव में उसके कारण की खोज करता है और यही प्रयत्न हमें ऊँचा उठाता है। हम अपने भीतर उन तत्त्वों को पा सकते हैं, जो

विकास की प्रगति के लिए हमारी चेतना को बल देने हैं और ईश्वर-प्रदत्त कार्य में सहयोग देने की प्रेरणा हैं।

बुद्धि-मार्ग से हम उसी निष्कर्ष पर जा पहुँचते हैं जो अध्यात्मवादी नैतिकता के मार्ग पर चल कर पाता है।

विकास की प्रगति आध्यात्मिक क्षेत्र में व्यक्ति से मानवीय सहयोग की माँग करती है। बौद्धिक क्षेत्र से पिछले छः हजार वर्षों में कोई विशेष सहयोग नहीं मिला। अन्ततोगत्वा हम स्वतंत्रता पर आ जाते हैं। आदिकालीन पाप को हम मानवीय चेतना को प्रारम्भिक उदय के रूप में मान सकते हैं। हमारा मानवीय नाटक जो हज़ारों शताब्दियों तक चलता रहेगा, कुछ पंक्तियों मे बताया जा सकता है।

प्रतिभा का नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति से सदैव विरोध रहेगा, जिसके कारण वास्तविक सुख-शान्ति नहीं मिल सकती। एक बुद्धिवादी ने, जिसने चालीस वर्षों तक महान् ईश्वरीय सत्ता में सन्देह किया, बिना आपत्ति किये पिछले उन भौतिक सिद्धान्तों की असत्यता को स्वीकार कर लिया जिन्हें अपने युवाकाल में वह अकाट्य समझता था। वह कल्पनातीत उस छोटे-से क्षेत्र में इलेक्ट्रॉन की गति स्वीकार कर लेता है। वह इलेक्ट्रॉन को 'प्रायिकता तरंग' मानता है। वह 'न्यूट्रॉनों' और विरोधी न्यूट्रॉन-कणों को भी मानता है, जिनका आविष्कार गणितीय कारणों से हुआ। इन न दीखने वाले कणों को वह बुद्धिवादी बिना किसी प्रतिरोध के मान लेता है, फिर भी अपने जिद्दी स्वभाव के कारण वह महान् ईश्वर-सत्ता को स्वीकार नहीं कर पाता, जिसके बिना महान् वैज्ञानिक समस्याओं का हल सम्भव नहीं। वह इस बात को जानता है कि उसके मस्तिष्क में विश्व के प्रति रूप का आधार क्षणमात्र की प्रतिक्रिया पर निर्भर करता है, जो उसकी चेतना में अपना कोई निशान तक नहीं छोड़ती। उस व्यक्ति से बढ़ कर अबुद्धिवादी और कौन हो सकता है जो बुद्धिवादी होते हुए भी अबुद्धि-वादी है।

वास्तविक प्रगति के पूर्ण होने में बहुत शताब्दियाँ लगेंगी यद्यपि परम्परा ने उसकी गति को बढ़ाया है। अब तक मनुष्य विश्व के द्वारा शासित था, भविष्य में वह स्वयं अपने पर शासन करेगा। इसके लिए उसे अपनी निम्नकोटि की प्रवृत्तियों तथा यान्त्रिक-कला के कारण उत्पन्न हुई आदतों पर अधिकार करना होगा, जिनके कारण उसके प्रयत्न सफल नहीं हो पाते। अनायास ही मनुष्य इनका दास बन गया है और इनकी तुष्टि को ही उद्देश्य मान रहा है। सभ्यता के

आरम्भ से ही अधिकांश लोगो के दुख-दारिद्र को जब हम देखते हैं, तो आश्चर्य नहीं होता। समाज के थोड़े से सदस्यों—जैसे आविष्कारक, रसायनिक, वैज्ञानिक और इंजीनियर—द्वारा निर्मित साधनो से पूर्ण लाभ उठाने के लिए अधिकांश मनुष्यो के लिए बहुत समय लगेगा। यदि ऐसा सम्भव भी हो—जो अनिश्चित है—तो भी उन्हें अपने उस कर्त्तव्य के समझने में बहुत समय लगेगा जिसके कारण उच्चतर विकासोन्मुख सुख-शान्ति का निर्माण हो सकता है।

मस्तिष्क और परम्परा के कारण मानवीय विकास गतिशील है। लेकिन मस्तिष्क की प्रक्रिया विभिन्न दिशाओं में होती है जो वास्तविक विकास के विपरीत भी जा सकती है। नैतिक पृष्ठभूमि के अभाव में विशुद्ध प्रतिभा विध्वंसात्मक समालोचना अथवा निरर्थक वादविवाद का रूप ले सकती है; उदाहरण के लिए मध्यकालीन दार्शनिक सिद्धांतों को लिया जा सकता है। मनुष्य को अपना उच्चतर विकासोन्मुख लक्ष्य न भूलना चाहिये और न ही उसे अपने अधिकार से ही उदासीन होना चाहिये। उसके प्रयत्न उसे ऊँचा उठाने के लिए हो। अब वह युग समाप्त हो गया जब उसे अपनी परम्परागत पशु-प्रवृत्तियों से संघर्ष करना पड़ता था। अब वह युग है जब उसे अपनी उन आदतो के विपरीत संघर्ष करना है जिनका जन्म उसके अपने मस्तिष्क की अस्वस्थता तथा परम्परा के फलस्वरूप हुआ।

मानवीय प्रतिभा और उससे निर्मित स्थिति के कारण मानवीय संघर्ष कहीं अधिक जटिल हो गया। मनुष्य के आविष्कारो ने उसके जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित कर दिये। इसके साथ ही सभ्यता के मिथ्या प्रतीकों और आदर्शों का भी जन्म हो गया। अब तक केवल कट्टर धार्मिक लोग ही—जैसे हिन्दू और मुसलमान—इसके कारण भ्रष्ट नहीं हुए।

विकास के संक्षिप्त अध्ययन मे हमने देखा कि बाह्य वातावरण में परिवर्तन होने से प्राणियों को उसके अनुरूप बदलने के लिए विवश होना पड़ता है। मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में भी स्थिति यही है। जहाँ तक पशुओं का सम्बन्ध है, इस क्षेत्र मे वे, विकास के दृष्टिकोण से, कोई प्रगति नहीं करते। ठीक यही स्थिति आज हम पाते हैं।

मनुष्य को यह समझना है, कि उसने अपने वातावरण में जिस यान्त्रिक परिवर्तन को पैदा कर दिया है, वह उसके नाश अथवा प्रगति का कारण बन सकता है। यह इस बात पर निर्भर करता है कि वह कहाँ तक नैतिक स्तर के अनुकूल बन सकता है।

मनुष्य का कर्त्तव्य सभ्यता के मिथ्या प्रतीकों के स्थान पर सच्चे प्रतीकों की स्थापना करने, मानवीय सन्मान को विकसित करने में है। यान्त्रिक उन्नति को समाप्त करना सम्भव नहीं। यदि ऐसा किया गया तो यह घातक साबित होगा। मनुष्यता का नैतिक स्तर उठाने की आवश्यकता है। स्कूली शिक्षा के साथ नैतिक शिक्षा को मिला देने से अद्भुत परिणाम देखे जा सकते हैं। अभी तक यह प्रयोग केवल उच्च शिक्षा-संस्थाओं मे ही किया गया है।

जैसा कि हम कह चुके हैं, प्रतिभा का विकास पिछले दस हजार वर्षों में इतनी तेजी से नहीं हुआ। जब मनुष्य के पास कुछ नहीं था, तब धनुष-बाण का आविष्कार करने के लिए कितनी प्रतिभा की आवश्यकता हुई होगी। इसी प्रकार मशीनगन का आविष्कार करने के लिए भी। कनफ्यूशियस, लाओत्से, बुद्ध, डेमोक्रेटीस, पाइथागोरास, आर्कमीडीज, प्लेटो उतने ही प्रतिभा-सम्पन्न थे, जितने कि बेकन, डेकार्ट, न्यूटन, केपलर, बर्गसों और आइन्स्टीन। प्रतिभा क्यों बढ़नी चाहिए, यह प्रश्न आज की तरह पहले भी विचित्र था। तथ्यों के लिखित रूप में अथवा मौखिक रूप में एक पीढ़ी से दूसरी पीढी तक जाने में, जहाँ एक ओर भलाई है वहाँ दूसरी ओर सभ्यता के लिए खतरा भी। यह स्थिति का दूसरा पहलू है, जो मनुष्य से नैतिक गुणों की माँग करता है। यदि हम धार्मिक भाषा का प्रयोग करें, तो कह सकते हैं कि आज भी ईश्वर और शैतान के बीच संघर्ष जारी है।

कुछ अपवादों को छोड़ कर नैतिक नियम युगों से अक्षुण्ण चले आये हैं। उन्हें थोड़े से नियमों का रूप दिया जा सकता है। विभिन्न युगो में ये नियम संसार के विभिन्न युगो मे पाये जाते हैं। वस्तुतः ये मानवीय संघर्ष और अनुभव के फल हैं। इन नियमों की रक्षा अवश्य होनी चाहिए। उनका विकास उनके आत्मसात् होने पर ही सम्भव है। कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि जीवन मे उनका व्यवहार शनैः शनैः हो रहा है और वे पृथ्वीतल पर फैलते जा रहे हैं। यह उन्नति समाप्त नहीं हो सकती क्योंकि यह उस विजय का प्रतिनिधित्व करती है जो मनुष्य ने पशुता के ऊपर प्राप्त की। शताब्दियों तक धर्म का उद्देश्य उन्नति करना था। उन्होंने सदैव उन्नति की हो, ऐसी बात नहीं। अपने उच्च आदर्शों के बावजूद गलत नेतृत्व के कारण उनका समय आपस में लड़ने में बीता। जनसाधारण की सुख-शान्ति धार्मिक विचारों की एकता में है। संसार तभी शान्ति मे विश्वास कर सकेगा, जबकि धर्म उसे इस पृथ्वी पर स्थापित कर सके। आध्यात्मिक विचार न तो विकसित हुए और न उनका प्रसार

ही हुआ; क्योंकि उनका विकास उन्हीं लोगों में सम्भव था, जो नैतिक उन्नति कर चुके हो। हम अभी तक उस अवस्था तक नहीं पहुँच पाये, इतना ही नहीं, हम उससे बहुत दूर हैं। निःसदेह आध्यात्मिकता मनुष्यता का उच्चतम आदर्श है।

मानवता का विकास प्रतिभा पर निर्भर करता है। प्रतिभा का विकास तो बहुत पहले कुछ मनुष्यो में उच्चतम स्तर तक हो चुका है, किन्तु तब से उसमे कोई वृद्धि नहीं हुई। मनुष्यता का विकास नैतिकता की प्रगति अर्थात् अधिक से अधिक मनुष्यों तक उसके प्रसार पर निर्भर है। मनुष्यता के लिए आवश्यक है कि वह इन नैतिक आदर्शों का प्रसार करे और मनुष्य मात्र के हृदय में उनकी स्थापना करे जिससे मनुष्य बिना यान्त्रिक बने प्रेरणा पा सके। वास्तव में यह भावी पीढ़ी के नैतिक स्तर के निर्माण का प्रश्न है। यदि मनुष्यता इसके लिए प्रयास करती है, तो निश्चय ही भविष्य में वह उच्चतर चेतना के निर्माण में योगदान दे सकेगी और एक दिन आध्यात्मिक मानव-जाति का उदय होगा।

ऊपर हमने मस्तिष्क द्वारा विकास की रूपरेखा प्रस्तुत की। अब हम सभ्यता की व्याख्या करते हुए बतायेंगे कि किस प्रकार यह विकास का महत्त्वपूर्ण अंग है और मनुष्य मानव-समाज के भाग्य का निर्णायक है।

अध्याय-१०

सभ्यता

हम देख चुके हैं कि प्रारम्भ में विकास के नये तत्त्व तथा परम्परा ने कुछ मानवीय गुणों—जैसे सन्तान-उत्पत्ति, भावात्मक प्रतिभा एवं नैतिकता आदि गुणो का विकास बड़ी तेजी से किया। इन विशेषताओं के विकास के लिए आवश्यक था कि शारीरिक दृष्टि से मनुष्य इतर प्राणियों से श्रेष्ठतम हों। मस्तिष्क के पूर्ण होने के बाद यह प्रगति मनोवैज्ञानिक धरातल पर सम्भव हो सकी। विकास-काल में प्रकृति ने बहुत से प्रयोग किये। कुछ तो अपनी अपूर्णता के कारण समाप्त हो गये और कुछ विकास की प्रक्रिया में संतुलन की अवस्था को पहुँचने के बाद समाप्त हो गये। विभिन्न जातियों में मस्तिष्क का विकास समान गति से नहीं हुआ। कुछ मानव-समूह जैसे—आस्ट्रालायड्स,

प्यूगियन्स, बुशमैन और पिगमीज आरम्भिक काल की दशा से नाम मात्र को ही विकास कर पाये। आज भी कुछ जातियाँ प्राचीन स्तर के मनुष्यों की भाँति व्यवहार करती हैं। श्वेत और पीत जातियों ने सभ्यता का विकास किया। इन दोनों जातियों में प्रतिभा और भौतिक उन्नति के साथ नैतिकता का विकास समान रूप से नहीं हुआ। लोगों की नैतिकता की पृष्ठभूमि पर ही आध्यात्मिक विकास सम्भव है। यह प्रश्न स्वाभाविक है कि क्या मानव-सभ्यता का विकास उचित दिशा में हुआ है? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमें सभ्यता की नवीन परिभाषा करनी होगी।

हमारा यह दावा नहीं कि यह परिभाषा अब तक दी हुई परिभाषाओं से श्रेष्ठ है। इसकी भिन्नता इसी में है कि यह परिभाषा इस पुस्तक में प्रतिपादित प्रमुख भाव का समर्थन करती है; इसलिए इसका व्यापक होना स्वाभाविक है क्योंकि इसका आधार केवल मानसिक नहीं है।

विकास के सिलसिले में यह कहा गया था कि कोई विशेष विकास संयोगवश शुरू हो गया और मानो उसका पूर्ण अन्त हो गया अथवा लौट कर फिर पिछली अवस्था में पहुँच गया। यही बात पूरी तौर पर सभ्यता के बारे में भी कही जा सकती है। सभी प्राणी भूतकाल के किसी दूरस्थ उद्गम से विकसित हुए हैं। उनमें विभिन्नता पैदा हुई और शताब्दियों बाद उनका विकास स्पष्ट हुआ। किसी समय पृथ्वीतल पर और जल में, विशाल, भीमकाय और बहुप्रसवीय (Prolific) युग के प्राणी भरे पड़े थे। सामान्य विकास, जिसका अन्त मनुष्य के रूप में हुआ, बार-बार विशेष जातियों द्वारा आक्रान्त होता रहा, फिर भी ये विभिन्न जातियाँ पृथ्वीतल से साफ हो गयीं।

इन विभिन्न प्राणियों के पृथ्वीतल पर भर जाने से विकास का मुख्य प्रवाह बन्द नहीं हुआ। किसी समय इन विकासोन्मुख परम्परा के प्रतीक प्राणियों के लिए भयंकर संकट उपस्थित हो गया था। इन संकटों के बावजूद उसकी प्रगति नहीं रुकी। प्रत्येक पीढ़ी, आगे आनेवाली पीढ़ी को अपने सचित गुणों को देती चल रही थी। यही गुण बाद को मनुष्य में केन्द्रीभूत हुए और आज वह महान् बना बैठा है। यह नहीं कहा जा सकता कि उत्तम प्राणियों ने उत्पन्न विकासोन्मुख तत्त्वों के लिए भविष्य में संकट उत्पन्न हो जायगा।

जिस प्रकार जातियाँ बनीं और नष्ट हो गयीं, उसी प्रकार सभ्यताएँ भी बनीं और बिगड़ीं लेकिन उनके विकासोन्मुख तत्त्व समाप्त नहीं हुए। कुछ तो आज भी कला के रूप में सुरक्षित हैं। समय उनको नष्ट नहीं कर पाता। इसलिए

हमें आशा है, कि हमारी अमर परम्पराएँ—सौंदर्य भावनाएँ, भावात्मक चिन्तन, नैतिक एवं आध्यात्मिक धारणाएँ बनी रहेंगी।

इस प्रकार एक के बाद एक सभ्यताएँ प्रत्येक आने वाली सभ्यता को आगे बढ़ाती रहीं, परिष्कृत करती रहीं। भविष्य में वर्तमान सभ्यता को उन भौतिक प्रवृत्तियों से संघर्ष करना होगा, जो सभ्यता की जड़ें खोदने में लगी हुई हैं। इस प्रकार की उलट-फेर आवश्यक है और स्वाभाविक भी। उच्च आदर्शों के विकास के लिए संघर्ष अनिवार्य हो जाता है। बिना संघर्ष के विकास रुक जायगा और संतुलन की अवस्था उत्पन्न हो जायगी, फिर मनुष्य को अपने को पूर्ण बनाने के लिए कुछ भी करना न रहेगा। विकास की वर्तमान अवस्था में संघर्ष का रूप नैतिक और आध्यात्मिक आधार अपना चुका है। शारीरिक विकास के लिए लाखों शताब्दियाँ लगीं। आत्मा के विकास के लिए भी हमें मानव इतिहास के पन्नों को उलटना पड़ेगा। हम अपने वातावरण से प्रभावित हो जाते हैं। संभवतः हम एक नाटक के पात्र हैं, जो अपने देश-काल की सीमा से बँधे हुए हैं। इस सम्बन्ध में हम अपना कोई स्वतंत्र निर्णय दे सकने में असमर्थ हैं।

सभ्यता के दो अर्थ होते हैं; एक स्थिर और दूसरा गतिशील। स्थिर दृष्टिकोण से हम किसी युग की अवस्था का वर्णन करते हैं; जैसे ग्रीक सभ्यता। गतिशील दृष्टिकोण से हमारा तात्पर्य उन तत्त्वों के विकास और इतिहास से है, जिन्होंने अब तक विकास किया और आगे भी करते रहेंगे।

स्थिर सभ्यता की धारणा हमारी अपनी है। इसकी तुलना तराशी हुई मांसपेशियों की उत्पन्न पतली पर्त से की जा सकती है, जिसे भौतिकशास्त्र ज्ञाता ने परीक्षा के लिए काटा हो। जीवकोष मृत होते हैं और मृत पदार्थ के बारे में पूरी बात जानने के लिए हमें ऐसे दर्जनों अंशों की परीक्षा करनी होती है। सभ्यता की गतिशील धारणा, जीवकोषों या अंगों की चलती हुई सिनेमा रील से की जा सकती है।

सभ्यता की स्थिर परिभाषा : सभ्यता, अब तक के समस्त मानव समाज में मस्तिष्क द्वारा नैतिक, सौंदर्यात्मक और मानव जीवन की भौतिक अवस्थाओं में हुए परिवर्तन के विकास की सूची मात्र है।

सभ्यता की गतिशील परिभाषा : सभ्यता, समस्त पृथ्वीतल पर मानवीय संघर्ष के विकास की स्मृति है, जो नैतिक और आध्यात्मिक प्रवृत्तियों की ओर उन्मुख रहती है।

दूसरे शब्दों में, सभ्यता पशु-परम्परा जीवन के अवरोध और नयी मानवीय प्रवृत्तियों के संघर्ष की कहानी है।

पाठकों को इस परिभाषा पर आपत्ति हो सकती है क्योंकि यह स्थिर परिभाषा के समान है। सभ्यता भौतिक प्रगति की व्याख्या नहीं करती। दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है। स्थिर परिभाषा युग विशेष की अवस्था का वर्णन मात्र है। यह वस्तु के स्थिर चित्र के समान है जिसमें हम प्रत्येक अंश यथासम्भव देख सकते हैं। दूसरी ओर गतिशील परिभाषा से हम मानवता के मौलिक प्रवाह का दर्शन करते हैं और उसके भूत, वर्तमान और भावी रूपों का अनुमान करते हैं। इस परिभाषा में प्रत्येक चीज़ स्थिर रूप में नहीं अध्ययन की जा सकती। आजकल के स्नानागार, रेडियो, वायुयान आदि सभ्यता के अंग अवश्य हैं लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि इन उपकरणों ने अमुक सभ्यता के विकास में कितना सहयोग दिया, मानवीय भावनाओं को आगे बढ़ाने में कितनी प्रेरणा दी। वास्तव में सभ्यता के भौतिक उपकरण तो गतिशील परम्परा के फल हैं, वे बौद्धिक गतिविधि के परिणाम हैं। उन्हें प्रगति का कारण नहीं माना जा सकता।

वास्तविक मानवीय उन्नति में मनुष्य पूर्णता की ओर अग्रसर हुआ है। उसके औज़ारों, कलाविज्ञता तथा भौतिक सम्पन्नता की कहानी दूसरी है, जो उसके विकास से सम्बन्धित है, और जिसने उसे आगे बढ़ने में सहायता दी। ऊपर की अंतिम बात भौतिकवादियों की धारणा है जो मनुष्य का अपमान करने वाली है; क्योंकि इसमें श्रेष्ठतम मानवीय गुणों की अवहेलना की गयी है, जो मनुष्य की सुख-शान्ति का निर्माण करती है तथा महानता का दर्जा देती है। मनुष्य अन्य प्राणियों से ऊपर उठ कर उच्चतर आनन्द का उपभोग कर सकता है। इसके विपरीत धारणा के लोग, चाहे वे नागरिक हों अथवा नेता, हमारी दया के पात्र हैं। वे विकास के विरोध में, ईश्वरेच्छा के विरोध में और अनुचित बातों के पक्ष में कार्य करते हैं।

चेतना के उदय के पूर्व का काल पशु-प्राणियों का युग था, जो केवल अपने शारीरिक तुष्टिमात्र से ही संतुष्ट हो जाता था। उसका कर्त्तव्य केवल आन्तरिक शारीरिक प्रक्रिया से ही नियंत्रित होता था। इसके अतिरिक्त कोई चारा भी नहीं था। वे अपराध नहीं करते क्योंकि उन्हें ज्ञान नहीं है। वे नंगे रहते हैं और उन्हें शरम नहीं लगती क्योंकि उनमें चेतना नहीं होती। वे अब भी अपने भौतिक वातावरण के दास हैं। वे पसन्द करना नहीं जानते। पशुओं की

इच्छा केवल उनकी रुचि से नियंत्रित होती है। उनकी स्वामि-भक्ति उनके मालिक तक ही सीमित है। चेतना के उदय के बाद ही उसकी भावनाएँ व्यापक हो चलीं। वह उनका मूल्य समझने लगा। वह अपनी रुचि का उपयोग करने लगा और तुरन्त ही वह निर्णय भी करने लगा कि कौन उसके प्रति रुचि रखता है। इस प्रकार नैतिक और आध्यात्मिक भावनाओं का जन्म हुआ।

हमने विकास के बुद्धियुक्त समालोचनात्मक अध्ययन से प्रारम्भ किया और स्वतंत्रता की सीढ़ी तक आये। इसी स्वतंत्रता के कारण उत्पादन स्वतंत्रता, रुचि की स्वतंत्रता, चेतना का उपयोग, मानवीय सम्मान की भावना आदि का विकास हुआ। इन्हीं तथ्यों में से ईश्वर का भाव धीरे-धीरे विकसित हुआ। जिस समय बाइबिल आदि धार्मिक ग्रन्थ लिखे गये, उस समय लोग विकास की भावना से अपरिचित थे। यही ग्रन्थ हमारे इस विश्वास का तार्किक आधार है।

आजकल मनुष्य जब इन धार्मिक ग्रन्थों को पढ़ते हैं तो उन्हें वे अत्यन्त अरुचिपूर्ण-से लगते हैं। उन्होंने कभी अपनी अन्तरात्मा की आवाज़ सुनने का प्रयास नहीं किया। उन्होंने कभी उस अमूल्य आनन्द का अनुभव नहीं किया। वह मनुष्य वास्तव में मनुष्य-रूप में पशु-प्राणि मात्र है और पशुओं की भाँति ही विकास के साक्षी हैं, जो इन्हें पीछे छोड़कर आगे बढ़ गया। कुछ लोग तो पूर्णतः उस पशु-स्तर तक पहुँच चुके हैं जहाँ उनकी शारीरिक एवं मानसिक प्रवृत्तियाँ केवल शारीरिक ग्रन्थियों के द्वारा ही नियन्त्रित होती हैं। इनमें भी अधिक संख्या के लोग किसी भय के कारण मनुष्य की तरह रहते हैं। ये मनुष्य विकासोन्मुख जगत के पतनोन्मुख अंग हैं। उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। दोष तो उसे दिया जाना चाहिए, जो अनुचित मार्ग जानते हुए भी लोगों को उस पर चलने से मना नहीं करता। दूसरे लोगों की कोई रुचि नहीं रह गयी है। वे अपनी सहज प्रवृत्तियों का अनुसरण करते हैं, लेकिन वे स्वयं के उदाहरण से भयानक भी बन सकते हैं। कुछ लोग बहुत अच्छी तरह से रहते हैं लेकिन उन्हें किसी बात की चिन्ता नहीं। ये विकास के फल तो अवश्य हैं लेकिन उसमें कुछ सहयोग नहीं दे पाते। इनमें उत्तरदायित्व की भावना का नितान्त अभाव पाया जाता है। वे मनुष्य होने के नाते अधिकार तो पाना चाहते हैं लेकिन अपने कर्तव्य से विमुख रहते हैं।

सभ्यता के विकास के साथ-साथ व्यक्ति-समूह के इस अनुपात में परिवर्तन होता रहता है। बुद्धि, भावना और आत्म-निष्ठा, सभी, सभ्यता के विकास में

योगदान देती है। बुद्धिजीवी लोग बहुत थोडे से हैं और उन्हें आकर्षित करना सरल काम नहीं क्योंकि वे केवल बौद्धिक तर्कों से ही सत्यता को समझ सकते हैं; जो जनसाधारण की धारणाओं से विपरीत होती है। अपने मस्तिष्क की विशेष रचना के कारण वे समझने की योग्यता तो रखते हैं, किन्तु उनका तर्क उस शिकारी कुत्ते के समान होता है, जो खरगोश का पीछा करते-करते अकस्मात् रुककर कहने लगता है—'अरे कितना मूर्ख हूँ मै! यह सच्चा खरगोश नहीं, इसके पहिये कहाँ है!'

समाज मे अधिकतर लोग भावना से प्रभावित होने वाले हैं। इसका रूप अप्रत्यक्ष रहता है। आध्यात्मिक साधन बहुत थोडी मात्रा मे मिलता है। आराम, सम्पन्नता और सरल जीवन—ऐसा प्रतीत होता है कि ये आध्यात्मिक विकास के फल हैं। अत्यधिक दरिद्रता आदि को भी यही माना जा सकता है।

कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि सभ्यता मनुष्य के विकास में सहयोग दे और मनुष्य को केवल उसकी भौतिक सीमाओं मे ही न जकड दे, तभी मनुष्य का विकास उचित दिशा मे सम्भव है। सभ्यता का निर्माण मनुष्य के भीतर से हो, न कि बाहर से। यान्त्रिक और भौतिक आधार पर विकसित सभ्यता की असफलता अवश्यम्भावी है।

* * *

मनुष्य को अपना निश्चित रूप मिलने के पूर्व तक प्रकृति ने असख्य प्रयोग किये। उसी प्रकार उच्च चेतना के विकास के लिए भी सभ्यता को असख्य प्रयोग करने होंगे।

यह दूसरा युग बडा लम्बा चलेगा। सम्भव है, इसकी वास्तविक प्रगति मे अवरोध पैदा होता रहे। मनुष्य को उसकी दीर्घकालीन परम्पराओं से मुक्त करने मे बहुत समय लग सकता है। यह प्रगति स्वयं मनुष्य के सक्रिय सहयोग पर ही निर्भर करती है। अब इसके उपरान्त मनुष्य का सघर्ष मनुष्य से होगा—आत्मा की मुक्ति के लिये। इस सघर्ष को आगे बढाने वाले थोडे हैं। लेकिन उनमे अकस्मात् परिवर्तन करने वाले तत्वो के समान ही शक्ति है।

जब हम शरीर पर विजय पाने की अथवा पशु-प्रवृत्तियों पर नियंत्रण पाने की बात करते हैं, तो इसका मतलब यह नहीं कि इन प्रवृत्तियों का साधारण उपभोग नहीं होना चाहिए अथवा ऐसा करना बुरा है। अनुचित केवल इन प्रवृत्तियों द्वारा अपने को निमंत्रण मे बाँध देना है, अपनी स्वतन्त्रता को सीमित करना है।

मनुष्य स्वयं अपने को पशु-सीमाओं से मुक्त करे और इस प्रकार अपनी बुराइयों पर विजय प्राप्त करे।

मनुष्य का उद्देश्य शरीर पर नियंत्रण पाना है। दासता किसी भी रूप में अवांछनीय है। यदि इन प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त कर ली जाती है तो फिर उनसे डरने की कोई आवश्यकता नहीं।

प्रेम, भोजन, पेय और आमोद-प्रमोद के दूसरे साधन साधारण रूप मे उचित हैं, यदि वे उचित मात्रा में हैं। कहा है, 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'। अति का अर्थ है पशुता की विजय। शराबी बुरा माना जाता है, इसलिए नहीं कि उसने शराब पी है बल्कि इसलिए कि वह अपने पर नियंत्रण खो बैठा है। नशे में बेहोश आदमी, आदमी नहीं रहता; क्योंकि शराब की अधिकता ने उस पर विजय पाली। उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। उसकी कमजोरी धीरे-धीरे उसे समाप्त कर देती है।

संकल्पवादी नैतिकता इसके विपरीत, मनुष्य के लिए वास्तविक आनन्द का आयोजन करती है। स्वतंत्रता की भावना विकासोन्मुख रूप में आनन्द के अनन्त स्रोत का कारण बनती है। ये आनन्द गम्भीर और चिरकालीन होते हैं, क्योंकि इनका सम्बन्ध शरीर अथवा उसके स्वास्थ्य से नहीं होता।

अत्यधिक शारीरिक यातना और हठयोग भी शरीर के लिए उतना ही हानिकारक है, क्योंकि इससे मस्तिष्क के जीव-कोषों पर प्रभाव पड़ता है और विचारशक्ति अवरुद्ध होती है। इससे भी अधिक खतरनाक बात यह है कि इस प्रकार व्यक्ति में सत्यानाशी अहं पैदा हो जाता है। शरीर और आत्मा में समरसता पैदा होनी चाहिए, तभी मनुष्य में सौम्यता, सहनशीलता, दया आदि गुण उत्पन्न होते हैं।

सभ्यता के दो कार्य प्रमुख होते हैं। प्रथम, अपना गुणात्मक विकास करना और दूसरा, अधिक से अधिक लोगों में उनका प्रसार, जिससे व्यक्तियों के चरित्रात्मक विकास के लिए मार्ग बन सके।

व्यक्तियों के द्वारा ही विकास सम्भव होता है। दूसरा प्रश्न है कि वह विकास किस प्रकार का संयोग उपस्थित करता है। सैकड़ों-हज़ारों एक ही जाति के व्यक्तियों में संयोग विभिन्न प्रभाव डालता है। व्यक्तियों मे ही अकस्मात् परिवर्तन नवीन वंशगत विशेषता में बदल जाते हैं। यही बात प्राणियों के अस्तित्व में आने के बाद की विकास-परम्परा के सम्बन्ध में कही जा सकती है।

हमें अपना काम व्यक्तिगत रूप से ही करना पड़ता है और अपना कार्य हम

उचित परिस्थिति में ही कर पाते हैं। इनमें दो प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं—उच्चतर कार्य करने की प्रवृत्ति और स्वयं अपने से ऊपर उठने की प्रवृत्ति। यही प्रयास विकास में हमारा स्थान और कर्त्तव्य निश्चित करता है। यदि हम असफल होते हैं तो हम प्रगति में किसी प्रकार का योग नहीं दे सकते और महान् फ्रांसीसी दार्शनिक अरनेस्ट रेनन (Ernest Renan) के शब्दों में हम अनैतिकता के समर्थक बन जाते हैं। यदि हमारे बच्चे हैं, और हम अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं करते, तो हम विकास की संख्या को तो बढ़ा सकेंगे लेकिन अपना कोई चिह्न नहीं छोड़ सकते। हमारी स्थिति रास्ते के पत्थर के समान होगी जबकि हमारी स्थिति मील के पत्थर के समान होनी चाहिए। हम उच्चतर चेतना के विकास के लिए कार्य नहीं कर पायेंगे।

मानवता की प्रगति व्यक्तिगत प्रयत्न पर निर्भर करती है। यह प्रयत्न साध्य और साधन दोनों ही हैं। सहज ज्ञान अथवा नैतिक मूल्यों के अभाव में केवल बुद्धि बड़ी खतरनाक होती है। वह भौतिकवाद की ओर ही नहीं, बल्कि राक्षसीपन की ओर ले जाती है। ये पंक्तियाँ बहुत पहले लिखी गयी थीं, जब कि संसार को अणुबम का ज्ञान नहीं था। अकस्मात् लोग इसका अनुभव करने लगे हैं कि किस प्रकार विज्ञान की विजय मनुष्य की सुरक्षा को चुनौती देती है। शीघ्र ही तथाकथित सभ्य देशों ने इस बात का अनुभव किया कि बिना नैतिक मूल्यों को समझे परिस्थिति की भयंकरता से छुटकारा नहीं।

समय इतना कम होता है कि सुरक्षा के लिए लिखित सधिनामों की आवश्यकता पड़ती है। हर एक आदमी जानता है कि इन सधिनामों का कोई महत्त्व नहीं, यदि उन पर हस्ताक्षर करने वाला व्यक्ति ईमानदार नहीं है और यदि उसके नेतृत्व में रहने वाले लोग उसकी बात नहीं मानते। मानव इतिहास में प्रथम बार विशुद्ध बुद्धि और नैतिक मूल्यों का संघर्ष जीवन-मरण का प्रश्न बन गया है। हम इतनी आशा करते हैं कि मानवता इस पाठ से कुछ सीख सकेगी।

बुद्धि की भाँति चेतना भी मनुष्यों में असमान रूप से विकसित पायी जाती है। साधारण बुद्धि वाले मनुष्य का ईमानदारीपूर्ण प्रयास महाबुद्धिवाले व्यक्ति के प्रयास की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावोत्पादक होता है।

ईश्वरीय कार्य की पूर्ति के लिए मनुष्य को अपने आदर्श यथासम्भव उच्चतम रखने चाहिए; इतने ऊँचे कि उसकी सीमा के बाहर हों। पर आदर्श जलयानचालक का मार्गदर्शन करनेवाले नक्षत्रों के समान हों, जो हमारे जीवन का

 १८५८

मार्गदर्शन करे। यह इसलिए भी आवश्यक है कि छोटे आदर्श एक बार प्राप्त हो जाने के बाद अपना महत्त्व खो बैठते हैं और फिर नये आदर्शों की आवश्यकता पड़ती है। अन्तिम उद्देश्य हमारी पहुँच के बाहर रहना चाहिए। साधारण सफलता से अधिक महत्त्वपूर्ण सतत प्रयत्न है, जिससे हमें हतोत्साह न होना चाहिए। हम यह न भूलें कि ईश्वरीय प्रकाश हमारे भीतर है और उसे बाहर खोजने का प्रत्येक प्रयत्न असफल होगा।

अध्याय–११

(क) सहज प्रवृत्तियाँ।
(ख) सहज प्रवृत्तियों का समाज।
(ग) प्रतिभा।
(घ) अमूर्तभाव।
(ङ) व्यक्ति का स्थान।

मनुष्य के अभिमान के प्रतिकूल आधुनिक विचार परम्परा की सबसे बड़ी देन, यह साबित करती है कि मानवीय प्रतिभा केवल पशुओं की सहज प्रवृत्तियों और सहज ज्ञान का विकास मात्र है। पशुओं और मनुष्यों की प्रतिभा एवं बुद्धि के बीच अन्तर पर ज़ोर देने के बजाय कुछ दार्शनिकों ने बड़ी कुशलता-पूर्वक इस विरोध को कम करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने यह बतलाने के लिए, कि उच्चतर पशुओं के मस्तिष्क की गतिविधि मानव मस्तिष्क के समान होती है, बड़े-बड़े ग्रन्थ रच डाले। इसके विपरीत सत्य तो यह था कि मनुष्य का मस्तिष्क लाखो-करोड़ों शताब्दियों की विकास-परम्परा का फल है। ऐसा प्रतीत होता है मानो इन दार्शनिकों ने समस्या को सुलझाने के लिए महानतम् प्रयत्न किया हो, फिर भी उनका यह प्रतिपादन समस्या को और भी रहस्यमय बना देता है क्योंकि ये दार्शनिक भावनाओं की उत्पत्ति की व्याख्या नहीं कर पाये और न ही उच्चतर पशुओं की दूसरी प्रवृत्तियों की खोज करने में सफल हुए।

इस प्रकार के विद्वत्तापूर्ण प्रयत्न लगभग हानिरहित होते, यदि ईश्वर के अनस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए नकारात्मक तर्कों को वैज्ञानिक आधार पर

खड़ा न किया गया होता, और यदि यह न बताया गया होता कि मनुष्य अपनी सामाजिक समस्याओं का समाधान पाने के लिये कीट अथवा तुच्छतम प्राणियों के समूह से प्रेरणा पाता है।

ऊपर से इन लेखकों ने मनुष्य-समाज और कीट अथवा तुच्छतम प्राणियों के समाजों के बीच महत्त्वपूर्ण अन्तर को नहीं पहचाना। मनुष्य-समाज स्वतंत्र और अपने समाज से बाहर विचरण करने वाले मुक्त प्राणियों की स्वेच्छात्मक भावना पर सगठित है; जबकि इसके विपरीत प्रवृत्ति, कीट अथवा क्षुद्रतम प्राणियों में पायी जाती है, जहाँ व्यक्ति की स्वतंत्रता इतनी कम हो चुकी है कि वे अपना भोजन स्वयं पा सकने में असमर्थ होते हैं और उसके लिए दूसरे व्यक्तिविशेष पर निर्भर रहना पड़ता है।

कीट अथवा क्षुद्रतम जीवों के समाज और मनुष्य-समाज में अन्तर है। इसका कारण यह है कि कीट आदि जीवों के समाज उसी अर्थ मे समाज कहे जा सकते हैं जिस अर्थ में हम मनुष्य के शरीर को जीव-कोषों का समाज कह सकते हैं—सामाजिक समूह के रूप में नहीं। मनुष्य का शरीर इस रूप में सगठित हुआ है जिसमें मस्तिष्क के जीव-कोष विचार करते हैं, निर्माण करते हैं, विकास करते हैं। दीमक की गतिविधि, इसके विपरीत, वेमतलब अथवा शून्य होती है। इन दोनों के अन्तर को हम आधुनिक उस गणना—मशीन और मनुष्य के बीच से समझ सकते हैं, जिसका आविष्कार उसने अपनी समास्याओं का हल पाने के लिए किया है। यह यंत्र चाहे जितना पूर्ण एवं जटिल हो फिर भी वह विचार नहीं कर सकता। वह तो केवल मनुष्य द्वारा दी गयी समस्याओं का उत्तर मात्र दे सकता है—यन्त्रवत्। यह मत, कि हम पशु-समाज एवं कीट आदि के समाज से प्रेरणा पाते हैं, परम मूर्खता है। इस बात का प्रतिपादन करने वाले कुछ लेखक ईमानदार हो सकते हैं; लेकिन उनकी स्थिति और भी दयनीय हो जाती है; क्योंकि इसका मतलब यह होता है कि वे मानवीय समस्याओं को उचित रूप मे नहीं समझते और मानवीय प्रतिष्ठा तथा विकास में उसके स्थान के प्रति उदासीन से लगते हैं। इससे मनुष्य का स्तर पशु के समान बन जाता है और समस्त आध्यात्मिक प्रगति का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है। यह समस्त विकासोन्मुख प्रेरणाओं के प्रति निषेधात्मक रुख़ अपनाता है। यह मनुष्यता को नपुंसकता के स्तर पर लाकर रख देता है और इस प्रकार उसके अस्तित्व के मौलिक आधार को ही नष्ट कर देता है। यह लेखक इस बात पर विचार नहीं करते कि मधुमक्खियों के

समाज मे अंडे देने वाली 'रानी मक्खी' का स्थान कौन प्राप्त करेगा; अथवा अंडे न देने वाली मज़दूर मक्खियों और शारीरिक एवं मानसिक गतिविधि में कितनी समानता है। वे यह नहीं सोचते कि मधुमक्खियों के छुत्ते अथवा दीमकों के समूह में कोई नेता नहीं होता और इसीलिए उनके अनैच्छिक समूह उसी प्रकार कार्य करते हैं जिस प्रकार मशीन। ऐसे लेखक यह भूल जाते हैं कि मनुष्य केवल मशीन का सहायक-पुर्ज़ा नहीं, बल्कि स्वतंत्र प्राणी है।

व्यक्तिगत सहज प्रवृत्ति सामाजिक प्रवृत्तियो में स्थानान्तरित हो जाती है। व्यक्ति को स्वतंत्रता प्रदान करने वाली गुम्फित स्मृतियों के बजाय सहज प्रवृत्ति प्रत्येक व्यक्ति की शारीरिक गतिविधि के अनुसार दूसरी प्रेरणाओं में बदल जाती है। एक ही जाति मे विभिन्न रूपों का निर्माण अज्ञात प्रभावों के कारण होता है। एक बार त्यागने के बाद सहज प्रवृत्तियाँ व्यक्तियो की कोई रक्षा नहीं करतीं। व्यक्तिगत सहज प्रवृत्तियाँ मानों व्यक्ति को भूल कर सामाजिक प्रवृत्तियाँ बन जाती हैं, जो बिना किसी संघर्ष आदि के समाजगत विभिन्न व्यक्तिसमूहों (जैसे—मजदूर, योद्धा, मादा, नर) से स्वार्थ का सम्बन्ध दूसरे समूहो के स्वार्थ से जोड़ते हैं। यह इस प्रकार होता है, मानों नवीन सहज प्रवृत्तियों से युक्त नये व्यक्तित्व का निर्माण हुआ हो। वर्ग विशेष को हम महत्त्व देते हैं, उसके स्वार्थों का वर्ग के नाम पर बलिदान करते हैं, और इस प्रकार व्यक्ति ही समाप्त हो जाता है। उक्त बात हमारी धारणा और सहज प्रवृत्ति की परिभाषा में विरोध-सा पैदा करती है। अमुक प्राणि-समूह की न तो आत्मा होती है और न उसका भविष्य। वे उस विचित्र गति के परिणाम हैं, जो अन्ध-अनुकूलता (Blind-adaptation) के कारण उत्पन्न हुई और जिसमें कर्ता की, सम्भवतः, कोई रुचि नहीं रह गयी।

मनुष्य-शरीर विभिन्न जीव-कोषों से बना है, जिनकी विभिन्न विशेषताएँ होती हैं। शरीर में सामान्य मौलिक पदार्थ हैं। वह स्वतंत्र रसायन-विज्ञ हैं—फेफड़ों के, मज्जा के, मानसिक संस्थान के आदेश माननेवाले रसायनविज्ञ, जो तनिक आदेश मात्र से ही विचित्र रासायनिक द्रव्यों का निर्माण करते हैं, जो उनमें कर्मगति का कारण बनते हैं। उसमें मस्तिष्क के जीव-कोष हैं, जो अपना निर्माण नहीं करते; प्रतिक्रियावाहक मस्तिष्क के जीव-कोष और वे भी हैं जो रक्षा करते हैं, चिकित्सा करते हैं। इन समस्त जीव-कोषों के सहयोग से मनुष्य का व्यक्तित्व निर्मित होता है।

उक्त विशेषताएँ मधुमक्खियो में अथवा दीमक मे नहीं पायी जातीं। इनके

ये तथाकथित समाज अकारण ही चालित होते हैं, उनकी स्थिति साधारण रेखाचित्र के समान है। प्राणियों के शरीर में भी हम वही बात पाते हैं— श्रम-विभाजन। लेकिन मनुष्य में वास्तविक रचनात्मक व्यक्तित्व पाया जाता है जो दीमक में नहीं मिलता।

इसीलिए मनुष्य और पशु, विशेषकर कीट आदि, के सामाजिक संगठनों में, प्रतिभा और सहज प्रवृत्तियों के बीच अत्यधिक मात्रा में भेद पाया जाता है। मनुष्य में इतर प्राणियों की अपेक्षा एक और महत्त्वपूर्ण चीज पायी जाती है और वह है—अमूर्तभावों की योजना।

इसे और स्पष्ट करने की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए हम बच्चों की खेलनेवाली गोल गेंद को लें। हमारी ही भाँति सम्भवतः दूसरे प्राणी भी इसे देखते हैं। बच्चों की तरह, कुत्ते का बच्चा भी शीघ्र ही उसकी विशेषताओं से परिचित हो जाता है। वह जान लेता है कि गेंद लुढ़कती है, गोल है। पशु अपनी 'परिभाषा' से नितान्त संतुष्ट सा लगता है, जो वास्तव में बच्चे अथवा आदिकालीन मानव से भिन्न नहीं।

लेकिन मनुष्य की बुद्धि केवल उतने से ही संतुष्ट नहीं, यद्यपि उसने 'गेंद' शब्द की भी खोज कर ली है। अपनी कल्पना से, दूसरे शब्दों में, अपनी निर्माणकारी प्रवृत्ति से उसने एक आदर्श गेंद का निर्माण कर लिया, जो वास्तविक गेंद की समस्त विशेषताओं को रखती है और इस प्रकार उसने गेंद को पूर्ण आदर्श रूप दे दिया। उसने गेंद में से उसके रंग, कठोरता, वजन, लोच आदि को निकाल कर केवल आकार को ले लिया क्योंकि उक्त विशेषतायें तो विभिन्न आकारों में भी मिल सकती हैं। और इस आकार के लिए उसने एक नये शब्द का आविष्कार किया—गोला। इसको और भी अधिक समझने के लिए उसने आकार एवं भार-रहित तत्त्वों की कल्पना की, जो वास्तविकता में न तो कभी थे, न हैं, और न कभी होंगे। 'गोला' को व्यक्त करने के लिए निराकार तत्त्व की आवश्यकता पड़ती है, जिसके बिना वह गोले की कल्पना नहीं कर सकता। वह तत्त्व है, 'केन्द्र'।

मनुष्य के विचारों का केन्द्र एक अमूर्तभाव है।

यही विभाजक रेखा है, जहाँ से मनुष्य की प्रतिभा विकासोन्मुख हो चलती है। मनुष्य अपने में से तत्त्वों को निकाल कर मिथ्या विश्व की रचना करने में समर्थ है, जिसका उसके वातावरण अथवा अनुभव से कोई सम्बन्ध नहीं। यह केवल उपयोगितावादी अनुकूल बनने की प्रवृत्ति ही नहीं, बल्कि पूर्गल्पेग

एक नयी बौद्धिक रचना का प्रश्न है, जिसके लिए भौतिक संसार केवल आधार मात्र रह जाता है। वाह्य भौतिक जगत् से परे मनुष्य ऐसे जगत् का आविष्कार करता है जो उसे सोचने-समझने और अपने अनुभवों की व्याख्या करने की सामर्थ्य प्रदान करता है, जिसके द्वारा वह भौतिक जगत् पर नियंत्रण करनेका प्रयास करता है। और इसी प्रकार उसने अग्नि तथा विद्युत् के लिए अपनी धारणाएँ वनायीं। अपने द्वारा निर्मित इस विश्व को वह इतनी प्रधानता देता है, जितनी उस विश्व को नहीं देता जिसमें उसका विकास हुआ। यही वास्तव में मानवीय क्षेत्र है, विशुद्ध भावनाओं का क्षेत्र है; और नैतिक, आध्यात्मिक एवं नैसर्गिक धारणाओं का क्षेत्र बनता है। चेतना और स्वतंत्रता ईश्वर ने मनुष्य को प्रदान कीं और मनुष्य ने ईश्वर को खोज निकाला। विकास की उन्नति का उत्तरदायित्व उसके कंधों पर आया। उसे अमूतजगत् का निर्माण करने की योग्यता मिली, जो पशुओं में नहीं और जो भविष्य में उसकी रुचि और प्रयास का केन्द्र बनेगी।

वे दुर्भाग्यशाली हैं, जो अपनी परम्परागत प्रवृत्तियों के दास हैं और अपने अन्दर की श्रेष्ठतम आश्चर्यजनक प्रवृत्तियों को नहीं पकड़ पाते।

हम जानते हैं कि इस प्रकार के प्रश्न खड़े होंगे, जैसे—आदि मनुष्य-जातियों के सम्बन्ध में क्या कहते हैं? अनेक अविकसित एवं अर्धविकसित जातियाँ, जैसे दक्षिण अफ्रीका के बुशमैन, पिगमी, आस्ट्रेलिया के आदिवासी और फ्यूगनीज, और बहुतेरे दूसरे जो अमूर्तभावो का उपयोग नहीं करते, क्या वे मनुष्य नहीं कहलाये जा सकते? नव्वे प्रतिशत से अधिक लोग अमूर्तभावों का उपयोग नहीं करते।

यद्यपि यह ठीक है कि ये लोग बौद्धिक दृष्टि से विकसित नहीं हैं फिर भी अधिकाश लोगो ने पूर्वजों के समान देवता आदि का आविष्कार किया है। लेकिन जब हम सभ्यता की प्रगति की बात कहते हैं, तो 'फ्यूगियन्स' की बात नहीं सोचते। विकास के सम्बन्ध में हम गतिहीन रूपों का अध्ययन नहीं करते। जब हम देश विशेष के कला-साहित्य का वर्णन करते हैं तो वहाँ के जन-समाज की बात नहीं करते। हम केवल उस देश के लाखों नागरिको में से कुछ इने-गिने व्यक्तियो को चुन लेते हैं जिन्होने वहाँ की उन्नति और विकास को अपने बुद्धिबल से आगे बढ़ाया और इस प्रकार सभ्यता के मार्गदर्शक बन कर मानवता का नेतृत्व किया। ये थोड़े-से लोग हमारी रुचि का केन्द्र हैं। मनुष्यता उनका अनुशासन मानती है, उनसे प्रेरणा लेती है। हम मनुष्य-

जाति का एक गतिशील पिंड के रूप में अध्ययन करते हैं। हम इस बात को जानते हैं कि इस पिंड की गति का कारण थोड़े-से लोग हैं, जो बिखरे हुए पड़े हैं। और उनके समकालीन दूसरे लोग उस कच्चे माल की तरह हैं, जो आगे बढ़ने वाले नवीन व्यक्तियों को जन्म देते हैं और इस प्रकार प्रगति की परम्परा को बनाये रखते हैं। ये व्यक्ति तालाब में फेंके गये उस पत्थर के समान हैं जो अपने चारों ओर तरंगों का समूह छोड़ जाते हैं। वे दुनिया में कहीं भी दिखाई पड़ सकते हैं; अमेरिका में, यूरोप में, अफ़्रीका में अथवा समाज के किसी भी वर्ग में। ये न तो चीनी हैं, न अमेरिकी, न अंग्रेजी, न फ़्रांसीसी, न हिन्दू। वे केवल मनुष्य हैं।

हमारी आदत है कि चन्द व्यक्तियों की विजय का सेहरा सारे राष्ट्र के सिर पर बाँध देते हैं, क्योंकि हम राजनैतिक सीमाओं में रहते हैं, जो अवास्तविक होते हुए भी हमारे विचारों पर प्रभाव डालती है। राष्ट्र उन व्यक्तियों पर बड़ा अभिमान करता है, जो औसत व्यक्तियों में नहीं पाया जाता। हम इस सत्य को फिर दुहराते हैं कि उन्नति की प्रगति कुछ ही व्यक्तियों पर निर्भर करती है, जो मनुष्य के द्वारा विकासोन्मुख होती हुई राष्ट्रों की सीमाओं को लाँघ जाती है।

अत्यधिक सभ्य देशों में प्रतिभाशाली व्यक्तियों के उदय की सम्भावना अधिक रहती है, क्योंकि मस्तिष्क के विकास के लिए वातावरण मुख्य है, जो पिछड़े स्थानों में नहीं मिलता और जिसे बड़े शहरों में अथवा विश्वविद्यालयों में पाया जाता है। परम्परा मुख्य अवश्य है लेकिन उससे भी अधिक ज्ञान के उद्गम और प्रेरणाएँ हैं।

हम यह नहीं कह सकते कि आज का प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति भविष्य में विकास के दृष्टिकोण से अपने चिह्न छोड़ जायगा। क्योंकि बुद्धि और महानता को नापने के स्तर हमें अपनी सभ्यता से मिले हैं और कोई भी निष्पक्ष निर्णय देना असम्भव है। हमारे युग का मनुष्य दो हजार वर्षों बाद महान् माना जा सकता है चाहे हमने उसे रास्ते पर देखा हो, जानते हों, अथवा परिचित हों। हम उसे खोज निकालने में असमर्थ हैं क्योंकि या तो हम आवश्यकता से अधिक बुद्धिमान् हैं अथवा हममें साधारण स्तर से भी कम बुद्धि है। सहज ज्ञान कारण की अपेक्षा कार्य के लिए अधिक क्षेत्र प्रदान करता है। इसी प्रकार वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक विश्वासों की अपेक्षा धार्मिक विश्वास अधिक प्रभावशाली होते हैं। गति के लिए ज्ञान की अपेक्षा भावनाएँ अधिक बलवती होती हैं।

इतिहास में हजारों उदाहरण भरे पड़े हैं, जबकि हमने मनुष्यों के वास्तविक मूल्य को नहीं पहचाना और उनकी गतिविधि को दबाने का प्रयत्न किया, जिनके फल स्वरूप उस दुःखान्त दृश्य का निर्माण हुआ जिसने संसार को झकझोर दिया। कोई नहीं कह सकता कि आज के महापुरुषों के चिह्न कितने समय तक जीवित रहेंगे।

अध्याय–१२

(क) अन्धविश्वास—उद्गम और विकास

धर्म की ओर प्रगति करने में अन्धविश्वासों को एक भद्दा प्रयास माना जा सकता है और इस दृष्टिकोण से उनका एक महत्त्व है। इसका यह मतलब भी नहीं कि धर्म का आधार अन्धविश्वास है। इसका अर्थ विकास की दृष्टि से केवल इतना ही है कि किस प्रकार परम्परागत पशु-बुद्धि में गम्भीर परिवर्तन पैदा हुआ। यह प्रारम्भिक अवस्था थी, ठीक उसी प्रकार जैसे आदिकालीन प्राणियों में भावी नेत्रों के स्थान पर हल्के कोमल संज्ञाशील बिन्दु।

इतिहास और परम्परा को छोड़ते हुए हम उस मानव की कल्पना करें, जो एक ही स्थान पर आसपास के विकराल पशुओं से घिरा था। उसका जीवन-यापन भी उनके ही समान था। दोनों के सम्मुख एक जैसी ही समस्यायें थीं—भोजन, जिसका अर्थ था शिकार, भद्दे शस्त्र, पत्थर, डंडे आदि का निर्माण उसने अपनी स्वाभाविक कमजोरियों और प्रारम्भिक कल्पना के स्तर पर किया, जो बाद को सुधरता गया। उसे अपनी आत्मरक्षा करनी पड़ती थी; रात-दिन सतर्क रहना पड़ता था। अन्य दूसरे प्राणियों के विपरीत उसका मस्तिष्क कार्यशील था। वह खोज करने के योग्य बन गया था। उसके शस्त्र अधिकाधिक कार्य-योग्य बनने लगे। अपनी शारीरिक हीनता को कम करने के लिए उसने लगातार उन्हें सुधारना शुरू कर दिया। प्रत्येक चीज़ के लिए प्रकृति पर आश्रित रहने के बजाय उसकी प्रतिभा क्रमशः परिस्थितियों को अनुकूल बनाने लगी। मस्तिष्क कल्पना करता और हाथ वाह्य निर्माण करते गये। प्रारम्भिक डंडे आदि हलके एवं मज़बूत पत्थर के कुल्हाड़ों में बदल गये। काटे गये जानवरों की चमड़ी के तारों से नुकीले पत्थरों को लकड़ी के सिरों पर मजबूती से बाँध कर

बर्छी बनायी गयी। अपने पास अधिक व्यावहारिक एवं खतरनाक शस्त्रों के कारण उसका जीवन अपेक्षाकृत स्वतंत्र और निर्भय बना। मनुष्य को तब भी आवश्यक आराम नहीं मिल सका था। लेकिन वह उन्नति-पथ पर अग्रसर हो चुका था। पत्थरों के औज़ारों में क्रमशः सुधार, इस बात का प्रमाण है।

अब उसके सामने दूसरे प्रकार के खतरे थे, जो उसके भय का कारण बनते थे : जैसे पुच्छल तारे, आँधी-तूफ़ान, ज्वालामुखी, भूकम्प आदि। मनुष्य द्वारा अग्नि की खोज के विषय पर प्रायः मतभेद रहा। सम्भवतः लकड़ियों के दो टुकड़ों को रगड़कर आग पैदा करने का तरीका आग के इस्तेमाल के बहुत बाद आया। यह धारणा उचित नहीं प्रतीत होती कि मनुष्य ने लावा की नदियों को अपने साधारण शस्त्रों से रोका और इस सुलगते हुए स्रोत को डंडे अथवा कुल्हाड़ी से रोकते समय लकड़ियों में आग लग गयी होगी, अथवा उसने बलते हुए वृक्षों की टहनियों को तोड़ लिया हो। स्वभावतः उनके मन में इस खतरनाक चीज को अपनी गुफाओं में रखने का विचार पैदा हुआ होगा; जिससे वह आवश्यकता पड़ने पर इस शस्त्र का उपयोग अपने शत्रुओं पर कर सके ? समस्त जंगली जानवर आग से डरते हैं। इस प्रकार उसने एक नये सिद्धांत—अग्नि—को पाया जो उसकी रक्षा भी कर सकता था और उसका नाश भी। उसके मन में अग्नि के प्रति एक प्रकार की भययुक्त भावना रही होगी।

आदिकालीन मानव में पशुओं की अपेक्षा यह अन्तर था कि उसका भय उसके मानसिक जगत् की सीमाओं तक ही सीमित नहीं रहता था। उसके पास मस्तिष्क था, जिसके कारण वह आगे बढ़ सकता था। आग पर अधिकार पाने के बाद उसने उसके उद्गम का पता लगाया, जो केवल अभौतिक हो सकता था—उसके अनुभव की सीमाओं से परे—और जिसे उसने वास्तविक व्यक्तित्व प्रदान किया। उसने नये प्राणी का निर्माण किया, जिसे उसने क्रोध, घृणा, द्वेष आदि समस्त मानवीय गुणों से विभूषित कर दिया। सम्भवतः यह पहला ईश्वर था। इस प्रकार अनायास ही वह जगत्-कर्ता की ओर आ गया। अपनी उच्च प्रतिभा के कारण उसमें यह चेतना की चिनगारी पैदा हुई, जिसने बाद को उसे विकास के नियंता के समीप ला दिया। जब यह कहा जाता है कि उस समय के रीछ, हाथी, शेर और मनुष्यों के जीवन में कोई विशेष अन्तर नहीं था, तो निश्चय ही अब हमें मनुष्य और पशुओं के उस अंतर को देख कर बड़ा आश्चर्य होता है जो तब से दिनों-दिन गहरा होता गया। पशु-बुद्धि को आगे बढ़ाने के समस्त प्रयत्नों में बड़ी विकट बाधायें

पैदा हुई, जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। हम यह निर्भयतापूर्वक कह सकते हैं कि मध्यावस्था के सम्बन्ध में आपत्ति नहीं उठायी जा सकती क्योंकि कि इसके बिना विकास की कल्पना ही नहीं की जा सकती। बड़े जटिल और विकासोन्मुख मस्तिष्क के उदाहरण हम दे चुके हैं। हमने यह भी कहा कि हमारे ज्ञान में कुछ ऐसी खाइयाँ हैं जिनके कारण कुछ बातों मे कार्यकारण का सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता। अपने न्यून ज्ञान के कारण कभी-कभी हम नये शारीरिक रूपों, कार्यों के विषय में वर्तमान शारीरिक ढाँचों, कार्यों और मानसिक गतिविधि का पूरा समाधान नहीं दे पाते। निस्संदेह यह मान्यता के तौर पर स्वीकार किया जा सकता है कि सहज प्रवृत्तियाँ और पशु-बुद्धि प्रारम्भिक अवस्था में थी, जो बाद को मानवीय प्रतिभा में विकसित हुई। लेकिन हम यह नहीं मानते कि पशु-बुद्धि सहज प्रवृत्तियों का सीधा परिणाम है अथवा मानवीय मस्तिष्क की अमूर्त एवं रचनात्मक शक्ति, दोनों में से किसी एक अथवा दोनों के मेल से उत्पन्न हुई है। सहज प्रवृत्ति और पशु-बुद्धि स्वतंत्र प्रयास के फल हो सकते हैं। हमारे पास कोई प्रमाण नहीं कि दोनों में से एक भी मनुष्य के मस्तिष्क की गतिविधि का सरलतम रूप है। आस्ट्रेलिया के आदिनिवासी और पिगमीज़ मनुष्य हैं; फिर भी उनकी प्रतिभा में विकास नहीं हुआ। सफ़ेद जातियों की भाँति उनके उद्गम से भी हम परिचित नहीं। यही बात मस्तिष्क की विशेषताओं के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। जैसा कि कहा जा चुका है, समस्त विकास मे अकस्मात् हम कोई नयी विशेषता पाते हैं; जिसका पूर्व बातों से कोई सम्बन्ध नहीं। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि विकास प्रगतिशील रहा। नष्ट हुई असंख्य जातियो के कारण मनुष्य-परम्परा का पता पाना असम्भव है। मनुष्य के मस्तिष्क की विशेषताओं को पशुओं में खोजना अत्यंत आपत्तिजनक होगा।

'सहज प्रवृत्ति' यंत्रवत् उपयोगितावादी व्यवहार का रूप होती है, जो हमारी प्रतिभा की धारणा के विपरीत लगती है। सहज प्रवृत्ति परम्परा की दास होती है और प्रतिभा स्वतंत्र। परिस्थितियों के अनुकूल सहज बुद्धि की कल्पना तो की जा सकती है लेकिन उनके निरंतर विकसित होने का कोई कारण नहीं होता। दूसरी ओर, विचारों के विकास की हम कोई सीमा निश्चित नहीं कर सकते क्योंकि सीमा तो वास्तव में हमारे मस्तिष्क की उपज होगी।

सृष्टि को समझने के प्रथम प्रयत्न स्वयं ही मूर्तिपूजा और जादू-टोने आदि के विश्वास मे बदल गये होंगे। मनुष्य बिल्कुल अज्ञान में था। उसके चारों

और भयपूर्ण वातावरण था, जिनमें कुछ पर तो वह विजय पा सकता था और कुछ उसकी विजय की सीमा के बाहर थे। रचनात्मक कल्पना ने अमूर्त कल्पना को पैदा किया और उन भयंकरताओं से मुक्ति पाने के लिए उसने उद्‌गम का काल्पनिक प्राणिरूप में आविष्कार किया। इस प्रकार कार्य से गुजरते हुए कारण को व्यक्तित्व का रूप दे दिया। इस दृष्टिकोण की पुष्टि, मृत व्यक्ति से सम्बन्ध रखनेवाली धारणायें, क्रिया-कर्म, सुन्दर चीजों का निर्माण आदि करते हैं। मूर्ति-पूजा प्रारम्भिक युग में पायी जाती है। ज्यों-ज्यों मनुष्य उन भयानक तत्त्वों को समझने में असफल रहा, त्यों-त्यों उसने रहस्यमय देवताओं की कल्पना की; उन्हें खुश करने का प्रयत्न किया। धर्मों में यह प्रवृत्ति सुरक्षित थी, जो हजारों वर्षों तक रक्तमय बलिदान के रूप में चलती रही। ये बलिदान आज भी विभिन्न देशों में पाये जाते हैं। इन कृत्यों के विरुद्ध प्रयत्न दो हजार वर्ष पूर्व शुरू हुआ, ईसा के उपदेशों द्वारा, लेकिन विजय अभी पूरी नहीं हुई।

इस प्रकार अन्ध विश्वास दो रूपों में पाये जाते हैं। प्रथम है, आदि-कालीन रचनात्मक रूप, जिस में मानव आत्मा को बाह्य रूप देने के प्रथम प्रयत्न ही बाद को धर्म के रूप में स्पष्ट हुए। अन्धविश्वास का दूसरा रूप प्रतीकगामी है, जो अविकसित रहा। यह प्राचीन मानव जातियों में पाया जाता है। सभ्यता के इतने विकास के बाद भी इसका व्यवहार जारी है, यद्यपि भय के आधार पर बनी सहज प्रवृत्तियों का आध्यात्मिक समाधान हो चुका है। मौलिक प्रगति के प्रारम्भ होने के बाद अन्धविश्वास अब भी भय के रूप में पाया जाता है।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में यह घटना शारीरिक विकास में पायी जाने वाली अवस्थाओं के समान है और इस प्रकार हमारी धारणा की पुष्टि होती है। कुछ बातों में अनुकूल बनने की प्रवृत्ति विकास के विरोध में पायी जाती है। दो जातियों में पायी जाने वाली प्रतिद्वंद्विता लाखों वर्षों तक रह सकती है, जब तक वातावरण दोनों में से किसी एक से अनुकूल रहे और वातावरण के आमूल परिवर्तन से दूसरी जाति को पनपने का अवसर मिले। इसका उदाहरण दूसरे युग के रेंगने वाले प्राणी और प्रथम स्तनधारी प्राणियों के सम्बन्ध में दिया जा चुका है। दोनों का उद्‌गम समान और अज्ञात था लेकिन उनका विकास विभिन्न दिशाओं में हुआ। प्रारम्भ में परिस्थिति 'डिनोसार' जाति के प्राणियों के अनुकूल थी, जिसके कारण उनमें विचित्र परिवर्तन हुए। लेकिन दूसरे युग के अन्त में लगभग १५ करोड़ वर्ष बाद, जब ऋतुयें

बनीं, तो वे शारीरिक विशेषतायें, जिनके कारण रेंगने वाले जीवों के शरीर भीमकाय बन गये थे, बेकार और नुकसानदेह साबित हुए। तब विकासोन्मुख स्तनधारी प्राणियो के लिए पनपने का अवसर मिला और उन्होंने इन आलसी दैत्यों के विरुद्ध संघर्ष शुरू कर दिया। भीमकाय सर्प जाति के प्राणी भयंकर ग्रीष्म और घोर शीत को सहन करने में असमर्थ रहे और वे बालों द्वारा सुरक्षित स्तनधारियो का मुकाबला न कर सके। उन्होंने रेंगने वाले प्राणियों के असंख्य कोमल अंडो को खा डाला। यह युद्ध बहुत समय तक चला और अपनी विशेषताओ के कारण अन्त में स्तनधारी प्राणी विजयी हुए।

प्रथम अन्धविश्वास मौलिक मानसिक प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न हुए। फूस की आग के समान बड़ी शीघ्रता से वे फैले लेकिन साथ-ही-साथ उनका रूप बदलता गया। कम विकसित मनुष्यो में वे फलने-फूलने लगे। अधिकांश प्रागैतिहासिक मनुष्यो का मनोविज्ञान बड़ा ही सरल रहा होगा। कुछ व्यक्ति धार्मिक चिन्तन की ओर विकसित हुए होंगे। कुछ समय के बाद इन विकसित मनुष्यो का दूसरे अविकसित लोगों से सघर्ष हुआ होगा। एक ही उद्गम होने के बावजूद भी दोनों प्रकार के मनुष्यों के विचार नहीं मिल सकते थे। विशाल जन-समूह के बीच अन्धविश्वासों ने भयंकर निर्दयतापूर्ण रक्तमय बलिदान का रूप ले लिया। सक्षेप में, उन्होने नये धार्मिक भाव को जन्म दिया, जिसकी भाषा को समझना जनसाधारण के लिए दूर की बात थी। बुद्धि और आध्यात्मिकता ने बिना शक्ति के ही मूढ़ता को चुनौती दी।

शताब्दियों से धर्म को एक भयंकर शत्रु—अंधविश्वास—से संघर्ष करना पड़ा है। वह मानव-मास्तिष्क से अभिन्न-सा प्रतीत होता है। आज भी अविकसित लोगों के बहुमत के कारण सत्य अथवा बौद्धिक विचार की अपेक्षा अन्धविश्वास बड़ी शीघ्रता से फैल जाते हैं। इतना ही नहीं, बौद्धिक विचार भी अंधविश्वास में बदल जाने के कारण शीघ्रता से फैल जाते हैं। यह संदेह किया जाता है कि विज्ञान के प्रति लोगों की आस्था भी एक प्रकार का अन्धविश्वास है। धर्म ने बुद्धिजीवियो और जनसाधारण, दोनो पर प्रभाव डाला। उनका मुख्य कार्य लोगों को एक करना था। इसीलिए ऐसे लोगों में अन्धविश्वास अधिक जड़ जमा चुके है। विपक्ष इतना शक्तिशाली था कि चर्च को भी कुछ साधारण अन्धविश्वासों को स्वीकार कर लेना पड़ा। कैथलिक धर्म का जन्म भूमध्य सागर के निकटवर्ती प्रदेशो में हुआ, जहाँ कल्पना अधिक तीक्ष्ण है। इसलिए कुछ बातों को अपनाये बिना कार्य असम्भव था।

ईसाई धर्म के प्रथम उत्थान पर एक दृष्टिपात उचित होगा। इससे पता चलेगा, कि चर्च को किन परिस्थितियों में संघर्ष करना पड़ा था। भूमध्यसागर के तटवर्ती प्रदेश उस समय बड़े सभ्य थे। महान सभ्यताओं का वहाँ उत्थान और पतन हुआ: लेकिन वे बिलकुल ही समाप्त नहीं हो गये। उनकी अर्थ-व्यवस्था और दैनिक सत्ता समाप्त हो गयी। महान कलाकार, दार्शनिक, वास्तु-कलाविद्, जो उस समय अपनी उत्कर्षावस्था में थे, नगर-नगरों और सरकार के साथ समाप्त हो गये। कुछ परम्पराएँ, जो मौलिक मानवीय आवश्यकताओं तथा धार्मिक भावनाओं को अभिव्यक्त करती थीं, जन साधारण में अपनी जड़ जमा चुकी थीं। दूसरे शब्दों में जनसमाज की धार्मिक भावना ने उन सब किंवदन्तियों को यूँही अपना लिया और अपनी रुचि एवं आदतों को संयुक्त कर जन समाज में फैला दिया।

देखा जाय तो किसी देश की एक प्रतिशत से भी कम जनता उस कला, साहित्य, विचार, उद्योग आदि का निर्माण करती है, जिसे हम सभ्यता कहते हैं। यह बात ईसवी सम्वत् से पूर्व भी सत्य थी और आज भी। इन बाह्य अभिव्यक्तियों को मिटा देने में बहुत थोड़ा समय लगता है, क्योंकि वे व्यक्ति-गत बुद्धि, अस्थायी वातावरण की उपज होती हैं—मनुष्य के वंशगत विकास के फल नहीं। प्रत्येक बालक जन्म से ही अन्धविश्वासों को ले आता है, जबकि उसमें रचनात्मक प्रतिभा अथवा बुद्धि बहुत ही कम पायी जाती है। जैसा कि हम देख चुके हैं, अपने विस्तृत अर्थों में धार्मिक भावना का उद्गम उतना ही पुराना है, जितनी कि मनुष्य की चेतना। यह सर्वव्यापी है। मनुष्य की कोई भी भौतिक स्थिति उसे नष्ट नहीं कर सकती। इसके विपरीत उसमें वृद्धि ही होती है। दुर्घटनाएँ और मन्द अनैतिकता सैकड़ों मनुष्यों पर प्रभाव डालती हैं, जो महत्त्वपूर्ण सभ्यता के लिए उत्तरदायी हैं। लेकिन उन लाखों मनुष्यों की पैतृक विशेषताओं को प्रभावित नहीं करती जो मनुष्य अपने शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति की अपेक्षा राष्ट्र का अधिक निर्माण करते हैं।

यह सत्य है, कि अन्धविश्वास प्रगति-पथ के रोड़े के समान परम्परा द्वारा फैलते हैं। हम इस विचित्र घटना का प्रतिरोध करते हैं। काल द्वारा विकास के स्थानान्तरित होने में विकास के तथ्यों का सामना नये तर्कों से करना चाहिए। यह शाश्वत नियम प्रत्येक जगह, प्रत्येक सम्प्रदाय में पाया जाता है। ईसाई धर्म के उदय के समय धर्म ने मनुष्य से अधिक माँग नहीं की। और कोई भी, भौतिक-वादी भी, उस पर आपत्ति नहीं उठा सकता, जिसे जेम्स ने किया है। काश,

संसार इन उपदेशों को आत्मसात् करने के लिए तैयार होता। चर्च इस बात को जानते हैं। परम्परा के रक्षक और चेतना के उत्तरदायी होने के नाते सहन करना उनका पहला कर्त्तव्य था। वे किसी भी मूल्य पर जीवित रहना चाहते थे और उसकी बहुत बड़ी कीमत उन्हें काफी समय तक देनी पड़ी।

ईसा तुरन्त नहीं आ गये, क्योंकि उदाहरण के रूप में अन्तहीन पूर्णता और बलिदान ही मनुष्य को सुधारने के लिए प्रेरणा दे सकता था कि वह एक दिन वैसा बन जायेगा। ईसा द्वारा प्रस्तुत चिनगारी थोड़े काल तक प्रकाश दे सकती थी। अपनी उत्कर्षावस्था में वह ससार को प्रकाश दे सकेगी। प्रारम्भ में उसके समर्थकों ने किसी प्रकार ज्योति को जीवित रखा और समय की प्रतीक्षा की। उनके उपदेश बड़े ही सरल और आकर्षक थे, जो दो हजार वर्ष बाद भी चमक रहे हैं। मनुष्यता को अपना शैशव छोड़ने में अभी बहुत देर है।

मूर्तिपूजक और धार्मिक गाथाओं का उद्गम मनुष्य की एक ही भावना है जहाँ गुण और दोष विस्फारित रूप में मूर्त हो उठते हैं। इन गाथाओं के विभिन्न रूप वातावरण, जलवायु और प्रस्तुत परिस्थितियों द्वारा निर्मित कल्पना होती है। हजारों वर्षों में उनमें रूपान्तर हुआ, सौंदर्य भरा अथवा उनका रूप ही बदल गया। समस्त संसार में उन प्रेरणाओं को खोजा जा सकता है, जो विभिन्न धर्मों के पीछे रही थीं। विचारशील मनुष्य की आध्यात्मिक प्रेरणा का आधार यही है। यह सम्बन्ध कभी-कभी दूर पड़ जाता है, लेकिन धर्मों को इसका समर्थन करना चाहिए। धर्मों की एकता उसमें खोजनी चाहिए, जो दैवी हो, व्यापक हो, अर्थात् मनुष्य में हो न कि मानवीय सिद्धांतों में।

अध्याय–१३

(क) धर्म
(ख) सच्चा धर्म हृदयगत है

मनुष्य की वर्तमान अवस्था लगभग 'मानव' और 'पशु' के बीच की है। कभी उसकी प्रवृत्तियाँ उसे पशुता की ओर ले जाती हैं और कभी मानवता की ओर। जब मनुष्य अपनी शारीरिक तुष्टि को प्रधान समझता है, तो वह अपने कार्यों को अनुचित नहीं समझता। कुछ भौतिकवादी

मान्यताओं ने इन प्रारम्भिक बातों को अपने तर्क का आधार बना लिया है। वे नहीं समझते कि इस प्रकार वे मनुष्य को उसी दासता की ओर प्रेरित कर रहे हैं जिससे वह मुक्त होने का प्रयास कर रहा है। दूसरा मार्ग उसे दुःसाध्य प्रतीत होता है। वह उसे अमानवीय समझता है, जो वस्तुतः अत्यधिक मानवीय है। वह यह नहीं समझ पाता की धर्म के क्षेत्र के बाहर कोई भी आतंक स्वाभाविक, सरल या स्पष्ट नहीं है। वह आस्थाहीन है। उसमें मानवता के प्रति कोई भावना नहीं। कभी-कभी भले-बुरे का निर्णय करने के बजाय वह अपनी सहज प्रवृत्तियों का शिकार बन जाता है। यदि उसमें उचित-अनुचित की भावना है, और फिर भी वह अनुचित मार्ग पर चलता है, तो स्वयं अपने को धोखा देता है।

हम परिवर्तन की उस प्रारम्भिक अवस्था में हैं, जिसका अन्त उच्चतम जाति में होगा और जिसके लिए सैकड़ों शताब्दियाँ लग सकती हैं। हम यह न भूलें कि पूर्ण मानव केवल कल्पना की वस्तु नहीं है। वह ईसा के रूप में देखा गया था। दूसरे अवतार और महान पुरुष भी उस पूर्णता के निकट थे, लेकिन मानव-जाति को देखते हुए उनकी संख्या नगण्य है। ये श्रेष्ठ मानव लाखों वर्ष पूर्व हुए थे। हम यह भी न भूलें, कि परम्परा के कारण यदि यह विकास का काल कितना भी छोटा क्यों न हो जाय, फिर भी उसमें काफी समय लगेगा, जिसे अपनी और अपने ईर्द-गिर्द दूसरों की उन्नति द्वारा आगे बढ़ाया जा सकता है। यदि हम सब इस कार्य-भार को अपने ऊपर ले लें, तो कार्य बडी जल्दी हो सकता है।

आगामी शताब्दियों में मनुष्य अपने मानवीय गुणों से उच्चतर आनन्द पायेगा। दूसरे प्रकार के आनन्द इस बात के प्रमाण हैं कि अब भी हम मानवीय विकास की प्रारम्भिक अवस्था में हैं। कुछ लोगों ने इस शारीरिक दासता से मुक्ति पा ली है। इससे यह प्रतीत है कि हमारे भीतर कोई और ही शक्ति है। उच्चतर स्वतंत्रता की उपस्थिति इस दासता को तोड़ने में व्यक्त होती है कि मनुष्य स्वयं अपने आध्यात्मिक जीवन का विधाता बने। अब तक किसी भी इतर प्राणी में यह बात नहीं पायी गयी। इससे मनुष्य के अपने भावी अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। अब मानव प्राणी उन शारीरिक इच्छाओं के सामने सर नहीं झुकाता, जो उसे नीचे गिराकर अनुत्तरदायी कीट-पतंग की कोटि में ले जाती हैं।

यदि मनुष्य मिली हुई अपनी सुविधा का उपयोग नहीं करता तो अपने महान पद को न समझते हुए व आँखें बन्द किये हुए केवल अपनी सुरक्षा

बढ़ाता रहेगा। शारीरिक भिन्नता तो केवल एक अंग की पूर्ति करती है। वह अभी सच्चा मानव नहीं बन पाया।

मनुष्य तब तक प्रगतिशील नहीं बनता, जब तक वह अपने प्रयास का मूल्य नहीं समझता। यह बात नयी नहीं है। ईसाई धर्म में हमें यह मिलती है। इसका उदय धर्म के पूर्व ही हो चुका था। धर्म का कार्य, महात्माओं की भाँति इसका विकास और निर्देशन करना है। यही मानवीय प्रेरणा है। यह हमारी आत्मा के भीतर विद्यमान रहती है, जो किसी घटना अथवा मानव के सम्पर्क मे आते ही आस्था के रूप में जाग्रत हो जाती है। इसीलिए कभी-कभी झूठे महात्मा और झूठे सिद्धान्त भी जन साधारण से इतनी श्रद्धा और प्रसिद्धि पा लेते हैं, जितनी कि सच्चे महात्मा या महापुरुष को मिलती है।

सच्चे और झूठे महात्मा का अंतर कैसे समझा जाय? हमारी समझ से एक ही कसौटी है; वह यह कि झूठा विकास का विरोध करता है अथवा उसकी अवहेलना करता है तथा मानवीय सन्मान और स्वतंत्रता को ऑखों की ओट कर देता है। हम अपने भीतर से ही प्रगति कर सकते हैं। जादू-टोने में विश्वास करनेवाली अद्भुत जातियों में बहुत-से लोगों ने बलिदान दिये किन्तु यह उनका दोष नहीं था। उन्हें सच्चे नेताओं का मार्ग दर्शन नहीं मिला था। वे तो केवल अपने हृदयगत धार्मिक भावना के लिए मरे, जो हम सब के लिए एक ही हैं। इसीलिए हमें प्रत्येक धार्मिक कृत्य का, चाहे वह कितना भी विलक्षण हो, सन्मान करना चाहिए। धार्मिक कृत्य तो एक साधन मात्र है, जिसके द्वारा वह अपने स्वयं को विकसित करता है। ससार में सर्वत्र धार्मिक भावना पायी जाती है। विश्वास करने की तथा ऊपर उठने की यह भावना सभी मनुष्यों में समान रूप से पायी जाती है। धर्म, सिद्धांत, विश्वास बहुत से हैं; फिर भी परस्पर विरोध के वावजूद भी यह भावना सभी मे मिलती है। कैंटरबरी के आर्क बिशप तथा इंगलैंड के प्रधान पादरी डा. विलियम टेम्पल ने साहसपूर्वक लिखा था—"सबसे बड़ी गलती यह मान लेना है कि ईश्वर का सम्बन्ध मुख्यतः धर्म से है।"

धर्मों के रूप, साम्प्रदायिक कर्म तथा प्रतीकों की व्याख्या में परस्पर विरोध हो सकता है, फिर भी वे सब ईश्वर के सम्बन्ध में तथा नैतिक मूल्यों के सम्बन्ध में एकमत हैं। शुद्धता, सुन्दरता एवं आस्था का आदर सब जगह पाया जाता है। किसी भी सिद्धात या मान्यता पर जो इसका समर्थन करती है, आक्षेप नहीं किया जा सकता। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मनुष्य अपने स्वयं को

विकसित करे और पूर्ण आदर्शों के समीप पहुँचने का प्रयास करे। इसके अतिरिक्त सभी बातें गौण हैं।

प्रश्न यह नहीं है कि हमारा धर्म क्या है, हम सब उसी एक घाटी के नीचे हैं, जहाँ से आदर्शरूपी चोटी पर चढ़ने का सब प्रयास कर रहे हैं। उद्देश्य निश्चित है; मार्ग भिन्न है। भेद इतना ही है, कि हम कौन-सा मार्ग अपनाते हैं। नेता आते हैं, हम उनका अनुसरण करते हैं; विभिन्न मार्गों के बावजूद भी सभी अपने मार्ग को श्रेष्ठ समझते हैं, और सभी ईमानदार हैं। परस्पर विरोधी मार्ग का अनुसरण करनेवाले, एक-दूसरे को बतलाने में उलझ जाते हैं कि उनका ही मार्ग ठीक है। और कभी कभी तो एक दूसरे पर गालियों की, पत्थरों की वर्षा भी करने लगते हैं। फिर भी वे जानते हैं कि एक दिन, यदि वे आगे बढ़ते रहे, तो पर्वत के शिखर पर अवश्य जा मिलेंगे।

मतों और धर्मों की विभिन्नता बाह्य परिस्थितियों तथा भौगोलिक और सामाजिक परम्पराओं द्वारा निर्मित होती है। समस्त धर्मों का उद्गम आध्यात्मिक भावना है, जो उसके अस्तित्व का आधार भी है। असहनशीलता अबोधता का परिणाम है। बुद्धि समुचित आधार मागती है, किन्तु जन साधारण भावना से ही संतुष्ट हो जाते हैं और सहज ही उनका नेतृत्व स्वीकार कर लेते हैं, जिन्हें वे योग्य समझते हैं। महत्त्वपूर्ण कार्य नेता का अनुसरण करना नहीं है, बल्कि अपने स्वयं को परिष्कृत करना है। नेता का कार्य प्रेरणा देना मात्र है।

जो लोग अपने स्वयं में ही अपने जीवन के संचालन के लिए यह आस्था पाते हैं, वे धन्य हैं। उनके लिए इस पुस्तक की आवश्यकता नहीं। बहुत-से ऐसे लोग हैं, जिनकी बुद्धि और भावनाओं के बीच गहरी खाई है, जिसके कारण वे दुखी हैं; यह पुस्तक उन्हीं के लिए समर्पित है। बहुत-से बुद्धिजीवी व्यक्तियों के मन में प्रश्नों के ढेर लगे हैं। वे उनके समाधान की चिन्ता नहीं करते अथवा उन लोगों से राय लेते हैं, जो अपने नैतिक चरित्र के बल पर उनमें आत्मविश्वास की प्रेरणा भर देते हैं। अज्ञानी मनुष्य स्वयं ही अपने चारों ओर विज्ञान का जाल खड़ा कर के उस आध्यात्मिकता को असत्य घोषित करते हैं, जिसने अब तक मनुष्यता का पथ-प्रदर्शन किया है। वे इतना नहीं समझते कि मुख्य बात नये मानवीय युग का विकास करना है और यह बात छिपायी नहीं जा सकती। विशुद्ध संकल्पवाद और कारणवाद ने जो ज्ञान क्षेत्र की प्रगति के कारण बहुत ही सीमित हो गया था, उस कारण को बिना किसी प्रमाण के अस्वीकार कर दिया, जिसके कार्य के सम्बन्ध में मतभेद नहीं हो सकता। वैज्ञानिकों का

यह दल उस सबको त्याग देना चाहता है, जो बौद्धिक नहीं है। वे सारी मनुष्यता को बौद्धिक क्षेत्र की ओर मोड़ देना चाहते हैं। वे यह नहीं जानते कि जिस विज्ञान में उन्होंने अपनी इतनी आस्था स्थापित की है, वह शीघ्र ही लड़खड़ाकर गिर पड़ेगा।

समीकरण और सूत्रों का जन साधारण के लिए कोई अर्थ नहीं। गणित के रहस्य सत्य होने पर भी जन साधारण-के हृदय को स्पर्श नहीं कर सकते, ठीक उसी प्रकार जैसे एक चित्र का रासायनिक विश्लेपण सौन्दर्य-भावना उत्पन्न नहीं कर सकता। गुण और मात्रा के बीच की खाई को विज्ञान कभी पूरा नहीं कर पायेगा।

जिस श्रेष्ठ आदर्श को अनेक ईमानदार व्यक्तियो ने अस्वीकार किया है, उसका व्यावहारिक पक्ष है—आनन्द, मानसिक शाति, जो बुद्धि की अपेक्षा मानसिक प्रक्रिया पर आश्रित है। चूँकि ऐसे लोगों का बहुमत है, इसलिए उन्हें आँखों की ओट नहीं किया जा सकता। जब तक बौद्धिक विचारधारा आध्यात्मिक मूल्यों के स्थान पर किसी सफल रचनात्मक योजना को प्रस्तुत नहीं करती एवं जब तक भौतिकवाद रुचि का विषय बना है, तब तक मनुष्य को इन समस्याओं की ओर पीठ फेरने का अधिकार नहीं।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ-साथ जो बहुत ही कम लोगो का दृष्टिकोण है तथा जिसने महान विचारकों से ईश्वर की आवश्यकता को स्वीकार कराया एवं धार्मिक और आध्यात्मिक विचारों के साथ-साथ, जिनकी जड़े मनुष्य के अन्तरतम हृदय मे जमी हैं, केवल एक साधारण एवं गुमराह करनेवाला दृष्टिकोण रह जाता है—व्यावहारिक बुद्धि का।

खेद है कि व्यावहारिक बुद्धि उस आध्यात्मिक विकास का समाधान नहीं कर पाती, जिसमें मनुष्य लगा हुआ है। व्यावहारिक बुद्धि की धारणा एक स्वार्थमय धारणा है, जिसका मानवीय प्रगति मे कोई स्थान नहीं। जैसा कि हम देख चुके हैं, यह व्यावहारिक बुद्धि में वैज्ञानिक पथ से भ्रष्ट ही नहीं करती, बल्कि अनुभवमूलक तथ्यों और कृत्रिम तर्क पर आधारित होने के कारण इसमें मौलिक कमजोरियाँ पायी जाती हैं। अनुभव से बाहर इसका विकास असम्भव है। यदि व्यावहारिक बुद्धि ही सर्वसामान्य होती, तो निश्चय ही मनुष्य के आध्यात्मिक विकास का अन्त हो जाता। यह हमें सुधरने, आदर्श की ओर बढ़ने, हमारे तुरन्त के स्वार्थों का विरोध करने और अवसर का उपयोग करने मे बाधक होती है। यदि इसको पूर्णतया मान लिया जाय, तो

बहुत-से अवसरों को उभरने का समय ही न मिलेगा। भोजन में नमक के समान इसका होना आवश्यक तो है, पर अत्यधिक होने की अपेक्षा न होना ही अच्छा है।

व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक व्यक्ति की सहायता करना असम्भव है। इसीलिए नेता की आवश्यकता पड़ती है। बौद्धिक स्तर समान न होने से हमें दो मार्गों का अनुसरण करना पड़ता है। पहला, वैज्ञानिक तथ्यों की लोकप्रिय शैली में व्याख्या करना, जिससे आदर्श को समझा जा सके; और दूसरा मार्ग मानवीय मनोविज्ञान का है, जो मानसिक विचारों की गम्भीरता पर आश्रित है। प्रथम उपाय से उत्तरदायी उपदेशकों को तैयार किया जा सकता है, जो भावी पीढ़ी को नवयुग की सूचना दे सकते हैं। दूसरा उपाय अधिक भावात्मक है, जो नेताओं को जन साधारण के हृदय तक पहुँचने मे सहायक है।

धर्म ने यह भेद बहुत पहले ही कर लिया था। आचार्यों ने जन साधारण के लिए साधारण-सुगम साहित्य तैयार किया, और दूसरा गम्भीर-विवेचनात्मक साहित्य अपने अनुयायियों के लिए। विश्व के सम्बन्ध में उनके बहुत-से विचार असत्य थे। वे किसी ठोस सिद्धात को विकसित करने में असमर्थ रहे। आज स्थिति कुछ दूसरी ही है। हम विश्व-नियमों में समानता पाते हैं और धार्मिक भावनाओं में भी कोई विरोध नहीं पाते। इसलिए हम अपने साहित्य का निर्माण श्रोताओं के स्तर के अनुसार कर सकते है। सत्य एक है, परन्तु उसको समझने के मस्तिष्क विभिन्न है। इसलिए जो बात एक को स्वीकार हो सकती है, दूसरे को नहीं। उत्तरोत्तर विकसित विज्ञान के प्रति आस्था और उसके द्वारा निर्मित समस्याओं का समाधान धर्म नहीं कर पाया। कुछ पूर्ण अंध विश्वास के साथ अत्यन्त पुराने विचारों से ही चिपके रहे। वे विकास-पथ से हट कर कट्टमुल्ला सम्प्रदाय रूप में बदल गये। कुछ ने श्रेष्ठ नेतृत्व के अभाव में परिस्थितियों से समझौता कर लिया, उनका भी विकास रुक गया। लोग धोखा नहीं खा सके; कुछ चर्च-सम्प्रदायों को भारी धक्का लगा।

मनुष्य कठोर अनुशासन मानने को तभी तैयार होगा जब उसे यह विश्वास हो जाय, कि धर्म और विज्ञान में कोई विरोध नहीं; उसके बौद्धिक और भावात्मक जीवन मे सघर्ष नहीं। शिक्षा के प्रसार के पूर्व कारण और भावनाओं का सयोग नहीं हो पाया। आज, जब कि अधिकांश लोग सत्य को मानने से इन्कार करते हैं, यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि दैविक सत्यों में कारण नहीं दिया जाता। इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति उन्हें समझ नहीं पाता। कुछ देशो में पाँच

और पन्द्रह के बीच की आयुवाले बच्चों की पृष्ठभूमि स्कूल में ही तैयार कर दी जाती है। आलोचना की बुद्धि रखनेवाले अधार्मिक मनुष्य को यह बात समझा देनी होगी, कि धार्मिक और वैज्ञानिक तथ्यों में कोई मतभेद नहीं।

यह मानना, कि समस्या धर्म के बजाय नैतिक नियमों को मनवाने मात्र की है, ठीक नहीं। यह दृष्टिकोण मनोविज्ञान की अज्ञानता प्रकट करता है, क्योंकि मनुष्य को उन नियमों की सत्यता के सम्बन्ध में संदेह बना रहेगा, यदि वह उनका उद्गम नहीं जानता।

इस प्रकार समस्या गलत रूप में सामने आयेगी। वास्तविक उद्देश्य मनुष्य को भीतर से सुधारना है, जिससे वह स्वयं नैतिक स्तर पर सोच सके। जब तक उसका व्यवहार आन्तरिक सुधार का प्रतीक नहीं बनता, तब तक उसके ऊपर नियमों को लादना, उसे निपेध-बन्धनों में जकड़ना व्यर्थ होगा। यदि ऐसा किया गया, तो परम्परागत चली आयी प्रवृत्तियों को वे नियम खतम न कर पायेंगे।

सभ्य मनुष्य का दृष्टिकोण, जो अपनी स्थिति से संतुष्ट है और जो दूसरों के लिए धर्म की कोई महत्ता नहीं देखता, उस खिलाड़ी के समान है जो छः फीट खाई को सरलता से पार कर लेता है। यह मनुष्य इस बात का अनुभव नहीं करता कि उसकी स्थिति एक अपवाद है। उसके नैतिक संतुलन और स्वतंत्रता के कारण उसके लिए सब आसान है। वह अपना कर्त्तव्य नहीं जानना, साथ ही धर्म को भी नहीं जानता, जिसकी सहायता के बिना मनुष्यता का पतन हो जाता है। मानवीय विकास की दृष्टि से, जो अब शारीरिक स्तर पर आकर समाप्त-सा हो गया है, यह व्यक्ति नैतिक आदर्शों के प्रसार में अपने उदाहरण द्वारा योग दे सकता है। उसे अपना उत्तरदायित्व राजसत्ताधारी लोगों पर नहीं डालना चाहिए। अध्यापक अपनी सीखी हुई बातों से सिखा कर परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखते हैं। कुछ अपवादों को छोड़कर अध्यापकगण पुराने स्तरों से बँधे रहते हैं, जो हमारे आर्थिक और सामाजिक ढाँचे का आधार बनते हैं। खेद है, यह स्तर पूर्ण सांस्कृतिक और वैज्ञानिक विकास का रूप माना जाता है। कुछ देशों में अध्यापकों की रूढ़िवादिता के कारण पीढ़ियों तक भूलें चलती रहती हैं। वास्तव में विज्ञान की उन्नति को केवल व्यवहार में ही मापा जा सकता है, केवल विचारों की दार्शनिकता में नहीं। फिर भी पहले की अपेक्षा दूसरा महत्त्वपूर्ण है, और होना भी चाहिए। वही तो विज्ञान का ध्येय है।

गलतियों को ठीक करने और भविष्य में उन्हें न होने देने के लिए शिक्षित और नैतिक स्तर पर विकसित मनुष्य की आवश्यकता है, भले ही उसका कार्य

कुछ भी हो। यदि वह ऐसा नहीं करता, तो वह अपने पीछे जो कार्य छोड़ेगा, उसे लोग शीघ्र ही भूल जायेंगे। अगर उसमें लिखने, बोलने और विचार करने की योग्यता है, तो उसे असत्य के विरुद्ध, जहाँ कहीं भी हो, आवाज उठानी चाहिए; चेतना के विकास के लिए व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा करनी चाहिए; और, धूर्तता का भंडाफोड़ करना चाहिए। यदि वह लिख सकता है तो उसे लोगों में नैतिक मूल्यों का प्रसार करना चाहिए। उसे अपने चारों ओर मानवीय सन्मान और मानवीय अधिकारों को प्रसारित करना चाहिए; यदि वह ईश्वर में विश्वास करता है तो उसे घोषित करते हुए उसका कारण देना चाहिए। यदि उसके पास कोई विश्वास या आस्था नहीं है, तो उसे अपने स्वयं से ईमानदारी के साथ पूछना चाहिए कि धर्म के स्थान पर वह क्या प्रस्तुत कर सकता है।

व्यक्तिगत रूप से हममें से कोई भी निरर्थक नहीं है। हमारी सार्थकता हमारी इच्छा पर निर्भर करती है। कभी-कभी पूर्णतया खराब होना सरल हो सकता है, किन्तु पूर्णतया अच्छा बनना बहुत मुश्किल है। हम यह न भूलें, कि ईमानदारी का प्रयास ही फलदायक होता है। जिनकी आत्मा शुद्ध है, जो आत्मा और बुद्धि के झगड़ों को समझ चुके हैं, जो भौतिकता पर विजय पा चुके हैं, केवल वे ही विकासोन्मुख धारा के अग्रणी हैं और उस आनेवाली उच्चतम मानव जाति के प्रतीक भी हैं।

अध्याय--१४

क—ईश्वर और सर्वसमर्थता की भावना

ईश्वर को देखने का कोई भी प्रयास निरर्थक होगा। हम उसकी कल्पना इलेक्ट्रान की कल्पना से अधिक नहीं कर सकते। बहुत से लोग केवल इसीलिए ईश्वर में विश्वास नहीं करते, क्योंकि वे उसे देख नहीं पाते। इलेक्ट्रान के अस्तित्व में विश्वास करते हुए यह बात ईश्वर के अनअस्तित्व का प्रमाण नहीं मानी जा सकती। आजकल हम बहुत सी बातों को उनके परिणामों द्वारा जानते हैं, जैसे ये सूक्ष्मतम कण इलेक्ट्रान, प्रोट्रान आदि है। वे कल्पनातीत हैं। भौतिक विज्ञान की इस शाखा में इन कणों को देखने का निषेध कर दिया गया है। इससे न तो कोई परेशान होता है और न उसके अस्तित्व में सन्देह ही करता

है, क्योंकि वैज्ञानिकों ने उसका विश्वास करा दिया है। ऐसा ही विश्वास ईश्वर के सम्बध में धर्माचार्यों ने कराया था। स्पष्ट है कि जिस विधि द्वारा हम भौतिक संसार को देखते हैं, वह अयोग्य हो जाता है। इन कणों के संसार में समय का वह अर्थ नहीं, जो हमारे लिए है। एक इलेक्ट्रान तीन गुणात्मक आकार (Dimensions) में गति करता है; और दस इलेक्ट्रान तीस गुणात्मक आकार में, जो हमारी कल्पना से बाहर है। कोई भी आज इन अद्भुत कणों के अस्तित्व में सन्देह नहीं करता।

नास्तिकजन यह नहीं जानते, कि बिना ईश्वर की मान्यता को स्वीकार किये हमारा समस्त ज्ञान-क्षेत्र निरर्थक हो जाता है। कुछ ऐसे भौतिक-तत्त्वों में विश्वास करना, जिनके बारे में उनका ज्ञान थोड़ा ही है, विवेकहीन आस्था का प्रमाण है। कुछ लोग तो केवल शब्दों के दास बन गये हैं। इसका एक प्रमाण मेरे पास आया हुआ एक पत्र है, जो मेरी पुस्तक के प्रकाशित होने के बाद ही मिला था। पत्रदाता ने मेरे इस प्रयास की समालोचता की थी कि मैंने असंयोग के स्थान पर 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग किया। उसकी राय में तो ईश्वर शब्द को शब्दकोप से ही निकाल देना चाहिए। एक वैज्ञानिक और सुलझे हुए व्यक्ति के लिए 'असयोग' शब्द पूर्णतया संतोपजनक नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो केवल उस बौद्धिक स्तर की ओर संकेत करता है, जिसे हम विज्ञान कहते हैं और जो मूलतः गलत है। वास्तव में, विज्ञान तो कुछ कृत्रिम नियमों का समूह है, जिनके द्वारा हम कुछेक घटनाओं का समाधान पा लेते हैं। आधुनिक विज्ञान अन्ततोगत्वा अंक-विज्ञान की धारणाओं और प्रायिकता की गणना-प्रणाली (Calcules of Probability) पर आश्रित है। ये नियम हमारे विश्व के निर्माणतत्त्वों की असमान स्थिति की ओर संकेत करते हैं। यदि हम इसमें असंयोग की संभावना को स्वीवार कर लेते हैं जिसने जीव-जगत में विचार का निर्माण किया, और यह स्वीकार नहीं करते कि जीवन विभिन्न नियमों का पालन करता है, तो सारा भवन ही ढह जाता है। किसी भी हालत में यह विवेकहीनता का ही प्रभाव कहा जायगा, जो हमारे भौतिक विश्व की जीवित और विकासशील घटनाओं के निर्णय करने में पूर्णतः असमर्थ है।

चाहे हम इस बाह्य प्रभाव को कोई भी नाम दें, असलियत वही रहती है। पहले इसकी संज्ञा 'छलकारी' थी, बाद में एडिंगटन महोदय ने इसे असयोग के नाम से पुकारा। आज जीवन और विकास का अध्ययन इसे तार्किक रूप में स्वीकार कर लेने पर विवश करता है और स्वयं उस उन्नतिशील दिशा को

व्यक्त करता है, जहाँ मनुष्य की चेतना और विचार अस्तित्व में आते हैं। अतएव इस कारण को न देने की कोई वजह नहीं, जिसने हमारे बौद्धिक विनोद और विचारों में क्षोभ उत्पन्न कर दिया।

उक्त पत्र में यह आपत्ति उठायी गयी थी कि मध्यकालीन असहनशीलता समाप्त नहीं हो गयी, भले ही उसका रूप बदल गया है। हमें प्रसन्नता है, कि हमारे उक्त पत्र के लेखक महोदय के प्रभाव का विस्तार इतना नहीं है, कि वे लोगों पर अपनी मूर्खतापूर्ण धारणाओं को लाद सके। कुछ तथाकथित स्वतंत्रता की मान्यता डिक्टेटरों की मान्यता से मिलती-जुलती है।

ईश्वर के भाव को मूर्त रूप नहीं दिया जा सकता। उसकी कल्पना करने के लिए हम ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण को पा सकते हैं। यह प्रयास मानसिक है। इसका भौतिक जगत से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसीलिए ईश्वर की वास्तविकता का प्रमाण भौतिक जगत के अनुभव की भाषा में नहीं मिल सकता। प्रयास स्वयं मानव-रचना हो सकती है, जो न्यूनाधिक मात्रा में अनुभवजन्य स्मृतियों पर आधारित रहती है। हम इसे प्रमाणित करने का प्रयत्न करेंगे।

मनोवैज्ञानिक गतिविधि दो भिन्न रूपों में व्यक्त होती है, प्रथम मानसिक प्रतिक्रिया के रूप में, जो हमारे वातावरण का प्रभाव होता है और दूसरा मनोवैज्ञानिक तथ्य, जिसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से वास्तविक कारण नहीं पाया जा सकता। प्रथम वर्ग में स्वाभाविक प्रवृत्ति, प्रतिभा, भाव आते हैं और दूसरे के अन्तर्गत अमूर्तभाव, नैतिक भाव (अच्छे-बुरे कर्त्तव्य आदि की धारणाएँ) और आध्यात्मिक भाव (ईश्वर का भाव) आते हैं।

प्रथम वर्ग हमें अपने भौतिक जगत के सम्बन्धों में इकाई का स्थान प्रदान करता है। जीवित और अजीवित जगत के सम्बन्धों की कोई जानकारी नहीं, किसी दिन भले ही उनकी खोज हो जाय; फिर भी उसके द्वारा उत्पन्न विरोध हमारे मस्तिष्क की अस्थिरता को नष्ट नहीं कर सकता। संभवतः जीवित और अजीवित जगत सम्बन्धी ये विरोध अस्थायी और मानसिक हैं। पहली पुस्तक के प्रारम्भ में हमने इनकी चर्चा की थी। संक्षेप में, ये विरोध हमारी धारणाओं को प्रभावित करते हुए भी घटनाओं की गति में बाधक नहीं होते।

इसके विपरीत दूसरे वर्ग में सभी आत्मगत तथ्यों का समावेश हो जाता है, जिनका सम्बन्ध सीधा प्रत्यक्ष अनुभव से नहीं रहता। गणित, ज्यामिति, अमूर्तभाव, नैतिक और आध्यात्मिक भाव का सम्बन्ध इसीसे है। पहले समूह के अन्तर्गत अन्तर्विरोध का उद्गम अमूर्त भाव है, लेकिन हमारे अहं और

भौतिक जगत के बीच मौलिक अन्तर्विरोध का कारण हमारे नैतिक भाव हैं। हमारा शरीर महान विकासात्मक धारा का अभिन्न अंग है। लेकिन हमारे नैतिक और आध्यात्मिक भाव उस पूर्ण अथवा परम प्राणी की ओर अग्रसर हैं, जिसकी ओर प्रारम्भ से ही विकास गतिशील है। एक ओर हम समस्त प्राणी जाति से सम्बद्ध हैं और उनके वंशगत गुणों का न्यूनाधिक मात्रा में वहन करते हैं; दूसरी ओर हम उस महान जाति के पूर्वज हैं, जो भविष्य में अपना स्थान प्राप्त करेगी और अपना सम्बन्ध हमसे उसी प्रकार तोड़ लेगी, जिस प्रकार अंडे में पोषित होनेवाला बच्चा उससे अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लेता है। एक ओर हम अपने भूतकाल के दास है दूसरी ओर हमें भविष्य की आशा है। इस दूसरे रूप में हम मानसिक गतिविधि की चर्चा करते हैं, क्योंकि यह उस साधन का आधार है जो भविष्य में और विकसित होगा। यह हमारे कार्य का निर्देशन करता ही है, प्रत्युत आगे आनेवाली पीढ़ी के लिए पृष्ठभूमि भी तैयार करता है।

अपने वास्तविक उद्गम के कारण अनुभवों और द्रव्यगत प्रभावों से पूर्ण प्रथम विभाग केवल एक है, जो हमें कुछ समझने में योग देता है। यह समझना ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा—मुख्यतः नेत्रों के द्वारा—सम्पन्न होता है। गन्ध, स्पर्श अथवा श्रवण नेत्रेन्द्रिय के साथ उत्पन्न होता है। अतएव किसी भी प्रकार की जानकारी का आधार मुख्यतः नेत्रेन्द्रिय ही ठहरती है। हम देख चुके हैं कि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा हमारी जानकारी अपूर्ण तथा अपेक्षित होती है और समस्त वास्तविक जगत का अंशमात्र होती है।

दूसरे विभाग में तथ्य और भाव से नहीं, बल्कि तथ्यों अमूर्त धारणाओं और नैतिक भावों के सम्बन्धों से जानकारी प्राप्त होती है, जिसमें देखने का कोई प्रश्न नहीं उठता। कभी-कभी यह जानकारी प्रथम विभाग के सहयोग से भी अप्रत्यक्ष रूप में मिल जाती है।

इसलिए प्रथम विभाग के आधार पर प्रकृति से हमारे सम्बन्ध के फलस्वरूप प्रतिक्रिया के आधार पर ईश्वर के सम्बन्ध में कोई भी स्पष्टीकरण संदिग्ध ही नहीं, बल्कि निश्चय ही असत्य होगा।

ईश्वर का भाव शक्ति अथवा ओज की भाँति ही विशुद्ध भाव है। उसे देखने की आवश्यकता नहीं; और न वह देखा ही जा सकता है। यह भाव स्वतः ही मन में पैदा हो जाता है, अथवा सामान्यतः विरोधों के फलस्वरूप यह भाव पैदा होता है। हमने पिछले अध्यायों में इन विरोधों पर जोर दिया है।

उद्‌गम का श्रेय या तो विज्ञान को दिया जा सकता है, जो इस समय प्रकृति पर अपनी महानता खो बैठा है—ऐसी स्थिति में विज्ञान ही गलत माना जायगा और उसकी समरसता खत्म होने के साथ-साथ वह अब हमारे आत्मविश्वास को प्रेरित नहीं कर सकता—अथवा उद्‌गम का श्रेय प्रकृति को दिया जा सकता है, जो स्वयं ही विषमताओं की खान है और हमारी बौद्धिक समरसता उसका पार नहीं पा सकती।

अवश्य ही जब विज्ञान एक स्वर से घोषित करता है कि विश्व की समस्त घटनाएँ "कारनाट क्लासियस" नियम के अधीन हैं और हम उसका अपवाद पाते हैं, तो यह इसका प्रमाण है कि विज्ञान का सार्वभौमिक अनुशासन नहीं है और यहां पर उसकी सार्वभौमिकता समाप्त हो जाती है। यही बात प्राकृतिक विकास की है। हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हमारा विज्ञान केवल अजीव जगत पर अनुशासन कर सकता है। यदि हम जीव-जगत के सम्बन्ध में अपने विज्ञान पर भरोसा रखें तो उसे असफलता ही प्राप्त होगी। इसके लिए हमें विज्ञान को दोषी बताने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि निर्जीव और सजीव जगत के सम्बन्ध से विज्ञान समझा नहीं सकता। जहाँ तक निर्जीव जगत का प्रश्न है, उसका अपना महत्त्व है। हमारे द्वारा निर्मित विश्व की रूपरेखा में जीवन का प्रश्न हल नहीं होता।

यदि हम अपना अन्ध विश्वास विज्ञान मे रखे रहें, तो इन विरोधों के बारे में हम इतना ही कह सकते हैं—"भविष्य में ज्यो-ज्यों नयी खोजें होंगी त्यों-त्यों उन विरोधों पर अधिक प्रकाश पड़ेगा, जो हमारे अपूर्ण ज्ञान के कारण हैं। विज्ञान के क्षेत्र से कोई बात अछूती नहीं रह सकती।" लेकिन इस प्रकार हम बौद्धिक एवं वैज्ञानिक मार्ग से पथ भ्रष्ट हो जाते हैं। हम ऐसी आशा व्यक्त करने लगते हैं, जो विज्ञान मे भावुकतामय आधार पर टिकी होती है। हम यह बिलकुल भूल जाते हैं, कि इन मौलिक धारणाओं पर विचार करते समय हम उस वैज्ञानिक आधार को ही समाप्त कर देते हैं और एक अबौद्धिक विश्वास को उसकी असफलता का प्रदर्शन करने के लिए अपना लेते हैं, जो स्वयं ही असख्य, अमूर्त तथा मानसिक गतिविधि का भंडार है।

यह स्वाभाविक है कि ईश्वर का विचार, यदि हम चर्च की भाषा का उपयोग करें तो, उन लोगों के द्वारा आना चाहिए, जिन्हें ईश्वरीय अनुकम्पा प्राप्त हुई है। हम अनगिनत घटनायें देखते हैं, जो हजारों लाखों वर्षों से जातियों का विकास और उनकी रक्षा करती रहीं, किन्तु सहसा ऐसी प्रवृत्ति पाते हैं, जो

इसके बिलकुल विपरीत कही जा सकती है—"अब तक तो तू केवल जीने में और सन्तानोत्पत्ति मे मग्न था। तू हत्या-चोरी आदि करने के बाद भी शांति-पूर्वक सो जाता था। आज के बाद तू अपनी सहज प्रवृत्तियो पर विजय प्राप्त करेगा। तू मरेगा नहीं, तू चोरी नहीं करेगा, लालच नहीं करेगा। यदि तूने अपने पर विजय पा ली, तो तुझे शान्तिपूर्ण निद्रा प्राप्त होगी। तू उस जीवन के त्याग के लिए तैयार रहेगा, जिसकी कल तक तूने किसी भी कीमत पर रक्षा की थी; और इस प्रकार तू सन्मार्ग पर अग्रसर होगा। जीवन, भोजन, संघर्ष और सन्तानोत्पत्ति तेरे मुख्य उद्देश्य न होगे। मृत्यु, भूख, दासता तेरे उच्चतर उद्देश्य के कारण बनेंगे। तू श्रेष्ठ मानव बन। यह तेरे अन्दर एक नये प्राणी की आवाज है, जिसे प्रथप्रदर्शक के रूप मे स्वीकार कर, चाहे तुझे अपनी इच्छाओ को भी समाप्त करना पड़े!"

खेद है, यह नया प्राणी सब लोगो के हृदय में अभी तक नहीं पैदा हो पाया। यदि हृदय में इसका—उच्च आदर्शों का—वास है भी, तो उसकी ध्वनि बहुत क्षीण है। उसका विकास तब तक संभव नहीं, जबतक स्पष्टतया उसका अनुभव न किया जाय और स्तंवत्रता-पूर्वक उसे व्यक्त न किया जाय। बिना प्रयास के वह खिल नहीं पायेगा।

* * *

संकल्पवादी मान्यता के अनुसार मनुष्य को निरंतर आध्यात्मिकता की ओर विकास करते रहना चाहिए। वह अपने को पाशविक प्रवृत्तियों और परम्परागत अपरिपक्व भावनाओं से मुक्त करे, जो आदि चेतना और प्रकृति के बीच संघर्ष के फलस्वरूप उत्पन्न हुई थीं। अपने इस सक्रमण-काल की स्मृतियाँ, प्रेरणाएँ और इच्छाएँ, जो प्राथमिक संक्रमणकालीन युग में पैदा हुई और जिन्होंने अपने को नवीन वातावरण के अनुकूल ढालने का प्रयत्न किया, आज भी उस पर प्रभाव जमाये हैं।

मनुष्य का समस्त वास्तविक प्रयास इस संघर्ष के लिए होना चाहिए और वह अपनी नयी मानवीय चेतना एवं मानवीय सन्मान से आवश्यक शक्ति और अपने आदर्श की प्रेरणा प्राप्त करे।

ईश्वर की सर्व समर्थता का अर्थ जब गलत रूप में समझा जाने लगता है, तब वह खतरनाक बन जाता है और विकास के विपरीत वह मनुष्य को शून्य भाग्यवाद में ढकेल देता है। मुस्लिम धारणा ने मनुष्य को एक व्यक्तित्वहीन जीवित यन्त्र में परिवर्तित कर दिया है, जो कीट-पतंग आदि से कुछ ही महान

है। मुसलमान किसी विचार में इतना अविश्वास करता है कि विचार की अनिवार्यता और व्यवहार असंभव हो जाता है। हमें यह दृष्टिकोण उस अगम सत्ता के प्रति अपमान-सा लगता है, जिसमें उसकी आस्था है। यह उस युग की याद दिलाता है, जब भय का युग था, अज्ञानता का अन्धकार था, अन्धविश्वासों का युग था और जब मनुष्य के शुद्ध भाव बहुत ही निर्दयतापूर्ण प्रवृत्तियों से युक्त होते थे। प्राग्-ऐतिहासिक पूर्वजों के भौतिक जगत की अप्रत्याशित घटनाओं के प्रति जो दृष्टिकोण था, वैसा ही अन्ध विश्वासपूर्ण दृष्टिकोण इस युग में अपने प्रति था। दैवी क्रोध के निरंतर भय और रक्तमय भेंट-पूजा आदि से वह अभी मुक्त नहीं हो पाया था, प्रेम और दया के भाव उस प्राचीन कैद से मुक्त नहीं होने का प्रयास कर रहे थे, मनुष्य अपने शत्रु, प्रकृति के प्रति असख्य रहस्यों से घिरा हुआ था और मुक्ति के सभी प्रयास असफल होते थे, और मनुष्य अन्धकार से संघर्ष करता हुआ परम्परागत रीति-रिवाजों से टकराता फिरता था।

ऊपर के अध्यायों में जो कुछ कहा गया है, उससे यह स्पष्ट है कि जब ईश्वर ने मनुष्य को अपनी इच्छानुसार पसंद करने की स्वतंत्रता दे दी, तभी ईश्वर ने अपनी सर्व समर्थता का अंश भी उसे दिया। बाइबिल के दूसरे अध्याय और हमारी मान्यताओं के अनुसार मनुष्य को ईश्वर द्वारा दी गयी वास्तविक स्वतंत्रता प्राप्त है, जो मानव-जाति में उच्चतर विकास का साधन बनती है। अब वह प्राणी जीवित नहीं रह सकता, जो शारीरिक दृष्टि से सबसे अधिक शक्तिशाली है, बल्कि भविष्य उसी का है, जो नैतिक दृष्टि से सबसे अधिक विकसित है। मनुष्य की यह नवीन महानता तभी अभिव्यक्त हो सकती है, जबकि वह अपने निर्णय करने में स्वतंत्र हो। मनुष्य को स्वतंत्रता देते समय जगत-कर्ता ने मानों यही एक सीमा निश्चित कर दी थी जो उसकी अन्तिम परीक्षा भी है। चेतना से युक्त होने पर मनुष्य ने जो स्वतंत्रता पायी है, उसके लिए उसे अपने को योग्य भी प्रमाणित करना होगा।

ईश्वर की सर्व समर्थता इसी से लक्षित होती है कि मनुष्य समुद्री कीड़ों से निकल कर अपने महान भावी रूप के अस्तित्व की कल्पना करने में समर्थ है तथा उसका पूर्वज होने की कामना करता है। ईसा तथा अन्य महान आत्माओं ने इसे साबित कर दिया कि यह केवल स्वप्न मात्र नहीं, बल्कि प्राप्त किये जाने योग्य आदर्श है। इसे प्राप्त करने का साधन हमारी प्रवृत्तियों और चेतना का संघर्ष है, जिसमें मनुष्य की श्रेष्ठता का सार छुपा है। विकास का सम्पूर्ण इतिहास

हमारे इस उच्च आशय के मूल्य का समर्थन करता है।

एक सीधा-सा प्रश्न पूछा जाता है कि यदि ईश्वर सर्व शक्तिमान है, तो इतने दीर्घकालीन विकास की अपेक्षा उसने प्रारंभ मे ही पूर्ण जीव का निर्माण क्यों नहीं कर दिया? मानव शरीर-रचना सम्बन्धी कारणों के सम्बन्ध में चेतावनी दी जा चुकी है कि उस सम्बन्ध में हमें "सूक्ष्मजीवी दृष्टिकोण" को नहीं अपनाना चाहिए, और विश्व की घटनाओं को अपनी निर्देशन-व्यवस्था में नहीं ढालना चाहिए।

निर्देशन-व्यवस्था का अर्थ हम सविस्तार समझा चुके हैं। हमने यह भी बताया कि वैज्ञानिक तौर पर यह कहा जा सकता है कि मन की निर्देशन-व्यवस्था घटनाओं का निर्माण करती है।

प्रत्येक मन्द अथवा तीव्र प्राकृतिक घटना जटिल होती है। वह प्रारम्भिक घटना श्रृंखला के विकास का फल होती है। निरीक्षक—मनुष्य—के दृष्टिकोण में उसका रूप परिवर्तन की गति पर निर्भर करता है। अत्यन्त मन्द गतिशील घटनाएँ, जिनका प्रारम्भ, विकास और अन्त अत्यन्त क्षणिक होता है, निरीक्षक की दृष्टि में कोई अस्तित्व नहीं रखती। उदाहरण के लिए ऐसी घटना, जो कुछ घंटों अथवा मिनटों में घटित होने के बजाय दस हजार वर्ष में घटित होती है, उस प्राणी के लिए अपना अस्तित्व नहीं रखती, जिसकी आयु पचास वर्ष है। मनुष्य के लिए फिर भी उसका अस्तित्व कुछ अंशो मे हो जाता है, क्योंकि उसका अनुभव परम्परा के नाते दीर्घ समय तक चलता रहता है। कई शताब्दियों में वैज्ञानिकों की परम्परा ने जो अपने लेखबद्ध विचार सचित कर रखे हैं, वे एक मनुष्य के अनुभव बन जाते हैं और वह निरीक्षण करने में सफल हो पाता है। ज्योतिष शास्त्र का निर्माण इसी प्रकार हुआ है।

दूसरी ओर द्रुतगामी घटनाएँ हैं, जिनका प्रत्यक्ष निरीक्षण असम्भव हो जाता है। उनको अध्ययन करने के तरीकों के आविष्कार के पूर्व उन्हें जानने का एकमात्र आधार तुलनात्मक तथ्यों पर आधारित तर्क थे। रेडियोधर्मी और इलेक्ट्रान सम्बन्धी विज्ञान का विकास इसी प्रकार हुआ। विज्ञान का संघर्ष सदैव से ही हमारी दृष्टिगत व्यवसाय को सुधारने में रहा है, जो सदैव बाह्य घटनाओं के अनुरूप नहीं होते। मन्द और द्रुत गति के चल-चित्रों से असख्य नये तत्त्व प्रकाश में आये। बहुत से लोगों ने खिलते फूल का चल-चित्र देखा होगा, जो हम अपनी आँखों से नहीं देख सकते। कलियों की पंखुड़ियो के खुलने की सुन्दरता इस प्रकार ज्ञात हुई, प्रयोगशाला में बारीक शिराओं का विकास,

जीव-कोष-केन्द्र और जीव-कोषों का निर्माण, जो नेत्रों के लिए असंभव है, इस विधि-द्वारा अध्ययन किया जा सकता है। इस उपाय से बहुत-सी नयी घटनाएँ प्रकाश में आयीं। अत्यन्त तीव्र गतिवाली घटनाएँ, जैसे बंदूक की गोली का घुसना, मक्खी के पंखों की गति और बारूद का विस्फोट आदि द्रुतगति वाले चल-चित्रों (एक हजार या उससे भी अधिक चित्र प्रति सेकंड) से जानी जा सकती हैं। ये घटनाएँ 'तुरन्त' होती हैं। कैमरा द्वारा इन्हें अलग-अलग विभाजित कर लिया गया है, जो अब तक संभव न था।

यह बात साधारण आदमी नहीं समझता कि हमारी निर्देशन-व्यवस्था में घटनाओं का अस्तित्व एवं उनका रूप उनके काल और गति से निश्चित होता है। उदाहरण के लिए, बारूद के विस्फोट को दो रूपों में व्यक्त किया जा सकता है, उसका काल एक घंटे का है अथवा सेकंड के लाखवें भाग का। यदि उसका काल एक घंटे का है, तो वह एक आग के रूप में होगा। यदि उसका काल एक सेकंड का लाखवाँ हिस्सा है, तो वह एक भयानक विस्फोट होगा। साधारण आग और विस्फोट में अन्तर केवल उनकी अपनी गति का है। परमाणु बम के भयानक होने का कारण यह है कि रेडियोधर्मी विग्रह बड़ी शीघ्रता से होता है। कुछ गज प्रति सेकंड की गति से जानेवाली लोहे की गेंद को सरलतापूर्वक हाथ से रोका जा सकता है, लेकिन जब वही गेंद दो हजार पांच सौ फीट प्रति सेकंड की गति से चलती है तो इस्पात की मोटी चादर में एक इंच घुस जाती है।

जब हम जीवन-विकास की घटना की परीक्षा करें, जिसमें मानव-चेतना और प्रतिभा का विकास हुआ है, तो हमें मन्द अथवा तीव्र गति को न लेना चाहिए। जो घटना हमारे लिए 'द्रुत' होती है, वही उस प्राणी के लिए मंद होगी, जो कुछ ही दिन जीता है। करोड़ों वर्ष जीनेवाले काल्पनिक प्राणी के लिए विकास की घटना बड़ी तीव्र मालूम होगी, और ईश्वर के लिए, जिसके प्रति हम अपने समय को सम्बद्ध नहीं कर सकते, विकास की घटना क्षणिक होगी।

ईश्वर की सर्व समर्थता हमारे सीमित वैज्ञानिक क्षेत्र में प्रवेश नहीं पाती। इसे स्वीकार करने में कोई शर्म नहीं, ठीक उसी प्रकार जैसे इलेक्ट्रान की कल्पना करने में। शक्ति के लिए विस्तृत अर्थ में सर्व शक्तिमान शब्द का प्रयोग करके हमने उसे मानवीय अर्थ से बाहर कर दिया है। इसके फलस्वरूप समस्त बौद्धिक वाद-विवाद हमारे मन की उपज हैं, जिनका अस्तित्व हमसे बाहर नहीं।

विकास, चेतना और गौरव की भावना ही, यदि इनका व्यापक प्रसार हो, तो मनुष्यता को सत्यानाश से बचा सकती है। विश्वव्यापी महायुद्धों की विभीषिका पाशविक बुद्धि पर नैतिक आदर्शों के बलिदान का स्वाभाविक परिणाम है।

दूसरी आपत्ति अधिक गंभीर है—ईश्वर ऐसे निरर्थक प्राणियो को जीने क्यों देता है, जो मनुष्य के लिए स्थायी संकट बने हुए हैं। बड़े-बड़े सांप, कीड़े-मकोड़े, मच्छर, कुष्ट के कीटाणु, सुजाक-गर्मी के कीटाणु, जो प्राणि-मात्र के लिए खतरा हैं तथा अन्य विभिन्न प्रकार के जीव-जन्तुओं की उपस्थिति ईश्वर की महानता को शोभा नहीं देती।

इस आपत्ति का उत्तर उस ईश्वरीय भाव मे छिपा है, जो स्वयं मानव मनोविज्ञान पर आधारित है। इस आपत्ति का अस्तित्व केवल व्यक्तिगत मन की निर्देशन-अवस्था पर है। विकासवादी दृष्टिकोण मे इसका कोई मूल्य नहीं। जब हम विकास की महानता पर विचार करते हैं और जहाँ हमारी कल्पना सीमित हो जाती है, तो कर्ता को उसकी अपूर्णताओं के लिए दोप देना अनुचित हो जाता है। कुछ व्यक्तियों की दृष्टि मे तो ये दोप दुखदाई हो सकते हैं, लेकिन सम्पूर्ण कार्य में—सृष्टि में—यह नगण्य हो जाते हैं। इन व्यक्तिगत भौतिक दोषो के बावजूद भी विकास तो रुका नहीं और उनका अन्त नीतिवान मानव के रूप में हुआ। फलात्मक दृष्टि से विकास सफलीभूत रहा।

इसका वास्तविक उत्तर कुछ दूसरा ही है। जब हम जीवन और उसके विकास को देखते हैं, जब हम विज्ञान और प्रकृति के रूप में विरोध पाते हैं, तो असंयोग को मानना सर्वथा अनुचित होगा। हमें यह मानना पड़ता है कि इन सबकी व्याख्या तभी सभव हो सकती है, जब हम ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार कर लें। विज्ञान-भक्त के लिए "असयोग" और "ईश्वर" शब्दों में कोई भेद नहीं। जब हम केवल मनुष्य द्वारा विकास की प्रगति पर जोर देते हैं, तो विश्व और विकास की व्याख्या करने के लिए संकल्पवादी दूरस्थतम आदर्श को स्वीकार करना पड़ता है। इसे शक्ति, प्रतिभा, अथवा कर्ता की इच्छा कह सकते हैं।

हमने इस शक्ति के विशेषणों की परिभाषा जान-बूझ कर नहीं की, जो ईश्वर का बोध करते हैं। हमने इसीलिए परम्परागत पवित्र ईश्वर नाम का तो उपयोग किया, पर उससे सम्बद्ध मानवीय विचारो और विशेषणों को छोड़ दिया।

इस पुस्तक के प्रारम्भ में हमने इन वाक्यो को लिखा था—यद्यपि आदर्श

निश्चित था, लेकिन उसकी प्राप्ति के साधन निश्चित नहीं थे। इसका अर्थ यह हुआ कि घटनाओं का नियंत्रण करनेवाले कुछ उन विशेष बन्धनों तथा नियमों पर हमें विश्वास है, जो घटनाओं पर मात्रात्मक नियंत्रण करते हैं। विशेष नियमों के अतिरिक्त हम अत्यन्त व्यापक एक सामान्य नियम को स्वीकार करने में बाध्य थे, जो सबको अन्तर्निहित कर लेता है। प्रारम्भ से ही जीवन का विकास एक आदर्श की ओर उन्मुख प्रतीत होता है। आदर्श की मंजिल मानव-चेतना थी। इस मान्यता से हमें केवल मनुष्य के महत्त्व और उसकी विकास की दिशा का ही ज्ञान नहीं होता, बल्कि विकास सम्बन्धी बहुत-सी अर्थहीन बातों का समाधान भी मिल जाता है, जिन्हें अब तक छोड़ दिया गया था। लेकिन यह सामान्य नियम उन वास्तविक विशेष नियमों को महत्त्वहीन नहीं करता, जिन तक कभी पहुँचा तो नहीं जा सकता, परन्तु ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से मानव-चेतना उनका बोध कर सकती है। इस मानव-चेतना ने इन नियमों के बोध-द्वारा कुछ तथ्यों को पाने में सफलता प्राप्त की। इस प्रकार यह साबित हो जाता है कि विज्ञान और उन वास्तविक नियमों में कुछ सम्बन्ध अवश्य होना चाहिए (देखिए अध्याय २)।

यदि हम यह स्वीकार कर लेते हैं कि विराट सत्ता ने वास्तविक नियमों का "निर्माण" किया तो यह मानना पड़ता है कि एक बार कार्य प्रारम्भ होने पर वे सदैव कार्य करते रहेंगे। दूसरे शब्दों में इन नियमों द्वारा किये गये कार्यों और उनकी दिशा को स्वयं यह विराट सत्ता भी नहीं रोक सकती, अन्यथा कोई नियम नहीं रह सकता था और वह केवल खिलवाड़ मात्र होती। जब एक बार किसी घटना का प्राम्भ होता है, तो उसकी गति तभी रुकती है, जब परिस्थितियों में विभिन्नता आती है और दूसरे नियम आकर लागू हो जाते हैं। विकास-काल में उत्पन्न होनेवाले दैत्य जीवधारी की व्याख्या इसके द्वारा हो सकती है। विशेष नियमों के द्वारा असमान शरीर रचना एक निरर्थक रिहर्सल की भाँति थी। प्रकृति और विकास के सम्बन्ध में हमारी धारणा और भी अधिक भ्रमपूर्ण बन जाती है, जब हम कुछ विशेष नियमों का व्यापक प्रसार देखते हैं और नियंत्रण करनेवाले सामान्य नियमों को नहीं पहचान पाते। उदाहरण के लिए हम कुछ उन नियमों को जानते हैं, जो बीज अथवा जीव-कोष से सम्बन्धित हैं। हम तापमान और माध्यम की क्षारता अथवा अम्लता के घनत्व को जानते हैं; इतना काफी नहीं है, क्योंकि बीज से एक विशेष पौधा बनते और उससे अमुक रूप-आकार के फूल बनते

और फिर पहले जैसे बीज उत्पन्न होने की प्रक्रिया से हम पूर्णतया अनभिज्ञ रहते हैं। हम मनुष्य-शरीर और तद्-सम्बधित कुछ शारीरिक नियमों को जानते हैं। हम कुछ विभिन्न जीव-कोषों को भी जानते हैं, लेकिन इस बात से हम पूर्णतया अनभिज्ञ हैं कि किस प्रकार मानव के रजवीर्य-कण से विभिन्न विशेषताओं वाले अंग-प्रत्यंगों का विकास हुआ। विकास के नियम और उनको सम्बन्धित करने वाले नियम हमारी समझ की सीमा से बाहर हैं।

यह मनुष्य की अज्ञानता है, इसे प्रकृति की अपूर्णता नहीं कहा जा सकता। उसने जिन शारीरिक नियमों को खोज निकाला है, बहुत से नियम अज्ञात भी हैं, वे सब उन सामान्य नियमों पर टिके हैं, जो केवल आंशिक रूप में ज्ञात हैं और अजीव पदार्थ जगत को नियंत्रित करते हैं। नियमों की जटिलता और सर्व-व्यापकता, जिसका अभी हमारे विज्ञान में स्थान निश्चित नहीं हो पाया है, वास्तव में मनुष्य की परेशानियों का मूल कारण बनती है, जबकि वह प्रकृति की व्याख्या करने चलता है।

हमारी यह मान्यता, कि विशेष वातावरण मे विशेष नियम लागू होते हैं, सीमित होते हुए भी उपयोगी है। एक विशेष प्रक्रिया, अनुकूल बनने की, कभी-कभी विकास के विपरीत कार्य करती है। लेकिन औसतन इससे उस विकास को कोई खतरा नहीं हो सकता, जो व्यापक सामान्य नियम की अभिव्यक्ति है। प्रारम्भिक संयोग के नियम प्रकृति में पाये जाते हैं, लेकिन उनसे उत्पन्न घटनाओं में अज्ञात नियम लागू होते हैं, जिनके कारण हम उन घटनाओं का निरूपण नहीं कर पाते। दूसरी घटनाएँ सयोग के नियम से नियंत्रित होती हैं। कभी-कभी विरोध भी पैदा होता है, पर उससे सामान्य नियम द्वारा नियंत्रित घटनाओं की गति में कोई बाधा नहीं पहुँचती और इस प्रकार हम उस बिन्दु तक आ पहुँचते हैं, जिस पर हम आना चाहते थे और जो हमें विभिन्न निरर्थक अथवा हानिकारक जातियों की उत्पत्ति का समाधान प्रस्तुत करता है।

विकास का अन्त नहीं होता; प्रकृति से मनुष्य का संघर्ष जारी रहता है। अपनी प्रतिभा और बुद्धि के बल पर मनुष्य ने अपने बहुत से शत्रुओं का नाश कर दिया। अपने नवीन ज्ञान के द्वारा वह निरंतर प्रकृति पर विजय पाता जा रहा है। उसने अपने को नवीन स्थितियों के अनुकूल भी बनाया है और इस प्रकार अपने विकास का मार्ग प्रशस्त कर रखा है। अगर मनुष्य अपने संघर्ष को अपनी बुद्धि से जारी नहीं रखता, तो संभवतः बुद्धि का विकास ही न होता। लेकिन बुद्धि के इस जटिल विकास ने, जिसने भावी

विकास के मार्ग को खोल दिया है, दूसरे प्राणियों के विकास पर रोक नहीं लगा दी। वे आज जीवित धारा के अवशेष हैं और मनुष्य को भी उनसे संघर्ष करना पड़ता है। बुद्धि-बल ने उन पर नियंत्रण अवश्य लगा दिया है, और भविष्य मे अच्छा नियंत्रण कर सकेगा। सबसे बड़ा खतरा उसे अपने स्वयं की बुद्धि से है, जिसने दूसरे प्राकृतिक और पशुओं से भी कहीं अधिक भयंकर नये खतरों को जन्म दे दिया है। केवल रेलों, जहाजों और हवाई जहाजों से प्रति वर्ष उतने आदमी नष्ट हो जाते हैं, जितने हैजे से भी नहीं होते। महायुद्धों में जितने आदमी समाप्त होते हैं, उतने छूत की बीमारियों से भी नहीं मरते। परमाणु बम किसी दिन इन सब की सीमाओं को भी पार कर जायेगा। आज हम देखते हैं कि मनुष्य की बुद्धि स्वयं मनुष्य के विरुद्ध मुड़ सकती है। यदि इसे नैतिक शक्ति द्वारा नहीं रोका गया, तो यह यह मनुष्य का ही नाश कर देगी। ऐसा ही विरोधाभास पशुओं के विकास-काल मे मिलता है। लेकिन नियंत्रित करनेवाली शक्ति का अभी उदय नहीं हो पाया है।

मनुष्य का नैतिक और आध्यात्मिक विकास अभी प्रारम्भिक अवस्था में है। भविष्य में वही मनुष्य की गतिविधि का नियत्रण करेगा, फिर भी अभी हम इस अवस्था तक नहीं पहुँच पाये हैं। भौतिक शक्तियो के सगठन का युग अभी समाप्त होता नहीं दिखाई देता।

हमें चाहिए कि विश्व सम्बन्धी अपनी धारणाओं को हम सब जगह न थोपें। मानवीय निर्णयो को हम उन घटनाओं पर लागू न करें, जो हमारी सीमा के बाहर की हैं। हम अपनी कार्यगुरुता के प्रति सजग हो और उन अप्रत्याशित विरोधों का सामना करें, जो जब-तब आते रहते हैं। हम आशा करते हैं कि लोग आस्था और विश्वास को भ्रष्ट करनेवाली उन समालोचनाओं को समझेंगे, जो तर्क और बौद्धिकता का जामा पहिनकर आती हैं। मनुष्य को उनके विपरीत अपनी मोर्चेबन्दी करनी चाहिए।

अध्याय–१५

शिक्षा और विज्ञता

जन-समाज के सुख एवं प्रगति को व्यक्ति के सुधार के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। यह सुधार अवश्य ही उच्च नैतिक धरातल पर आधारित तथा

पूर्णतः स्वीकृत एवं समझा हुआ होना चाहिये। विकास के नवीन युग की प्रगति के लिए शिक्षा-दीक्षा इसीलिए एक साधन माना जा सकता है।

बच्चों की शिक्षा, नैतिक विकास की दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए वह सामाजिक एवं राजनैतिक उथल-पुथल से प्रभावित होती रही है। भूतकाल में आज की अपेक्षा शिक्षा का स्तर महान था। शिक्षा का प्रचार अधिक न था; पर निश्चय ही तब संख्या की अपेक्षा गुण की ओर ध्यान अधिक था। गलत शिक्षा अथवा गलत सिद्धांतों पर दी गयी शिक्षा के परिणान बड़े भयंकर हुए। विश्व-बन्धुता का आदर्श श्रेष्ठतम है, पर वह अभी अपरिपक्व है। जब तक लोग शिक्षा के गुणात्मक पहलू को नहीं अपनाते, उसके लिए पृष्ठभूमि नहीं तैयार करते और बच्चों का उचित नैतिक स्तर नहीं बनाते, तब तक शिक्षा के महल का अस्तित्व बालू की भीति के समान ही होगा।

शिक्षा और विज्ञता का अन्तर न समझने के कारण लोगों में बहुत बड़ा भ्रम पैदा हो गया है। शिक्षा बालक के नैतिक आचरण का निर्माण करती है तथा सर्वमान्य कुछ मौलिक सिद्धान्तों को उसे बताती है। यह बालकों में शैशवावस्था की कोमलता से लेकर मानव-गौरव तक की भावना भरती है। किन्तु विज्ञता मनुष्य द्वारा प्राप्त ज्ञान को ग्रहण कराती है। शिक्षा बालक को प्रेरणा देती है, मार्ग-दर्शन करती है, मानवता से उसका सम्पर्क कराती है और उसे स्वयं का स्वामी बनने में सहायता करती है। विज्ञता उसे बौद्धिक गतिविधि के तत्त्व देती है और सभ्यता की अवस्था से परिचय कराती है। शिक्षा उसे स्थायी जीवन के मूल्य देती है; विज्ञता वातावरण के अनुकूल बनने में सहायक बनती है और भूत एवं भविष्य के विभिन्न तत्वों का संयोग कराती है।

समय के मनोवैज्ञानिक महत्त्व पर अब तक विचार नहीं किया गया। बच्चों के समय का वही मूल्य नहीं होता, जो बड़े होने पर होता है। मनुष्य की अपेक्षा शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से बच्चों का वर्ष बहुत बड़ा होता है। १० वर्ष की आयु के बच्चे के लिए २० वर्ष के पुरुष की अपेक्षा वर्ष का मूल्य आधा होता है।* इसी काल में बालक के मन का वह ढाँचा तैयार होता है, जिस पर भविष्य की समस्त घटनाएं निर्भर करती हैं—विशेषकर नैतिक आचरण। बालक प्रथम के कुछ वर्षों में कितनी शिक्षा ग्रहण कर लेंगे, उसी के अनुरूप

* लेखक की पुस्तक "प्राणिशास्त्रीय समय" (Biological Time) में इस विषय पर सविस्तार विवेचन किया गया है। पुस्तक न्यूयार्क से १९३७ में प्रकाशित हुई थी।

उनका आचरण बनेगा। अविभावकों और शिक्षकों को इस तथ्य पर अवश्य ही विचार करना चाहिए।

मनुष्य की अपेक्षा बालक की नैतिक शिक्षा भिन्न होती है। छोटे बच्चे उचित-अनुचित को उसके परिणाम से नहीं समझते हैं। नैतिक अनुशासन उसे विशुद्ध नैतिक आदर्श दे सकते हैं, जिसके बिना प्रगति असम्भव है। सेना को छोड़ कर, प्रौढ़ों का मापदंड एक-सा नहीं हो सकता।

इन नियमों को यदि स्वीकार न किया जाये, तो बालक की नैतिकता को बनाना असम्भव होगा। अपराध तो उनके प्रायश्चित से ही क्षम्य हो जाते हैं। इसी कोमल-युग में बच्चों के चरित्र का निर्माण हो सकता है।

कोमल-युग से हमारा आशय गोद से है। बहुत से माता-पिता, विशेषकर माताओं, को यह बात आश्चर्यजनक लगेगी। वे इसे असभव कह देंगी। वास्तव में वे नहीं जानतीं कि उनके अचेतन-अहं का कितना महत्त्व होता है। बच्चों की तोतली बोली और मुस्कराहट उन पर जादू का असर करती हैं और वे उस नैतिक अनुशासन को लागू नहीं कर पाते जो स्वयं ही एक दिन समस्या बन कर खड़ा हो जाता है। ज्यों-ज्यों बच्चा बड़ा होने लगता है, यह समस्या और भी जटिल बनती जाती है। उनकी अपनी कमजोरी के कारण आगे चल कर चरित्र-निर्माण अत्यधिक कठिन हो जाता है। हम माता-पिता के उस आलस्य की बात नहीं करते, जो प्रायः बाधक बनता है। ज्यों-ही बालक रोया कि दूध पिला दिया, गोद में उठा लिया। वे नहीं चाहते कि बच्चा रोये और शोर मचाये। यदि एक बार भी माता-पिता ने अपनी कमजोरी का परिचय दिया, तो स्थिति कठिनाई से सँभलती है।

माता पिता कहेंगे कि सदैव शिशु के पालने से चिपके रहना अथवा उसकी देखभाल करना असम्भव है। वह तो इतना छोटा है कि क्या-क्या समझेगा। वास्तव में यह भारी भूल है। तीन मास का शिशु भली भाँति सीख लेता है। यह कठोर होने का प्रश्न नहीं है, बल्कि धैर्य का तथा हठ का प्रश्न है और बच्चे से भी अधिक हठी होने की आवश्यकता है। यह काल समझाने का नहीं होता, बल्कि आदतों को लादने का होता है। ऐसा न हुआ तो माताओं को कुछ दूषित आदतों के निर्माण होने की मुसीबत का सामना करना पड़ेगा। कोई बच्चा नहाना नहीं चाहता, फिर भी सब माताएँ अपने बच्चों को साफ-सुथरा रहना सिखाती हैं। इन बातों को सिखाने के लिए आदेश भर काफी है, पर इससे शारीरिक नियंत्रण तो बनता है, लेकिन आज्ञाकारिता नहीं पनपती। बच्चे

के तर्क-विचारों का तभी उपयोग उचित है, जब वह इस योग्य हो जाये—लगभग १५ वर्ष की आयु में। हम यह न भूलें कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को समाज के अनुकूल बनाने का है, न कि समाज को व्यक्ति के अनुकूल।

प्रारम्भिक शिक्षा का समय भी यही शिशु-काल है। इस समय उसका मस्तिष्क अन्य बातों से मुक्त होता है। बच्चे की स्मरण शक्ति बड़ी तीव्र होती है और बड़ी शीघ्रता से उसका क्षय भी होने लगता है। प्रारम्भ से ही उसे सरल नियमों का आदी बना देना चाहिए। आगे चल कर उसका चारित्र स्वतः परिष्कृत होता चलेगा।

छोटे बच्चे के मस्तिष्क की प्रतिक्रिया सहज प्रवृत्ति की भाँति होती है और विकास की दृष्टि से उसकी गति पीछे की ओर भी लौट सकती है, जिसका विरोध आवश्यक है। इस प्रतिक्रिया के पूर्व ही मानसिक स्तर का ढाँचा तैयार कर दिया जाये, तो बाह्य ससार स्वयं उसके अनुकूल होता जायेगा। जागृति आने पर उसका व्यक्तित्व अपने-आप बिना किसी विरोध के पनपने लगेगा। अन्यथा परम्परागत प्रवृत्तियों और मानवीय परम्पराओं के बीच बच्चे के मन में एक द्वन्द्व पैदा हो जायेगा।

माता-पिता बच्चे का प्रारम्भिक उत्तरदायित्व सँभालते हैं और इसीलिए प्रारम्भिक सरल नियमों का आदी बनाना उनका काम है। बालक को स्वतः ही अनुशासन-प्रिय होना चाहिए। वह माता-पिता की आज्ञा का उल्लघन करे, इसकी सम्भावना भी उसके मन से निकाल देनी चाहिए। एक बार भी वह अपनी मन की मर्जी करने पर सफल हुआ, तो फिर वह बार-बार उसे करने लगेगा।

इसके बाद उसे अपने क्रोध, अधैर्य और दुःख को दबा कर अपने ऊपर नियंत्रण करना सिखाना चाहिए। इस प्रकार अनजाने ही उस पर माता पिता का अनुशासन प्रकृति के अनुशासन की भाँति स्थायी हो जायेगा और उसका व्यक्तित्व खतरे में न पड़ेगा। क्योंकि जीवन में नियम ही तो दूसरों के प्रति अपने व्यवहार का दृष्टिकोण बनाते हैं और दूसरी ओर उसके भावात्मक तथा मनोवैज्ञानिक जीवन को व्यक्त करते हैं।

छोटे बच्चे के सम्बन्ध में सफलता शीघ्र मिलती है। प्रारम्भिक प्रभाव चिरस्थायी होते हैं, उन पर बाद के प्रभावों का असर नहीं पड़ता। जटिल नैतिक नियम यदि बाद को थोपे जायेंगे, तो वे व्यर्थ होंगे। इसलिए शिक्षा का प्रारम्भ 'सकारण भाव' (Conditioned Reflex) द्वारा होना चाहिए। जैसा कि कहा

जा चुका है, ये आदतें बच्चे के बौद्धिक जीवन पर कतई प्रभाव नहीं डालतीं। अनुशासित बालक जीवन में अधिक सफल, सुखी और समाज के लिए उपयोगी होंगे।

जब बालक बोलने और सोचने लगता है तो उसकी इन शक्तियों का उपयोग करने में कोई भय नहीं। उसके श्रवण एवं वाक् इन्द्रिय की शक्ति विचित्र होती है, जो १० वर्ष से अधिक नहीं रहती। बालक के लिए दो तीन भाषायें सीख लेना कठिन नहीं, जबकि १० वर्ष की आयु के ऊपर का बालक ऐसा नहीं कर सकता। फिर उसमें दृढ़ता आ जाती है, जो दो तीन वर्ष की आयु में नहीं पायी जाती।

हम बता चुके हैं कि बच्चों के लिए समय का वही महत्त्व नहीं है, जो बड़ों के लिए है। अतः वह बड़ो की अपेक्षा कहीं अधिक ज्ञान सीख सकता है। शिक्षक यह याद रखे, कि बच्चे के लिए १० मिनट की शिक्षा वयस्क के १ घंटे के बराबर होती है। इससे अधिक उसका चित्त एकाग्र नहीं हो पाता। प्रति दिन ५-६ मिनट के ६-७ पाठ देना उचित है, जो वयस्क के ६-७ घंटे, प्रति सप्ताह के बराबर होंगे। २० मिनट का वर्ग निरर्थक है, क्योंकि इतने काल तक बच्चे का ध्यान एकाग्र नहीं रह पाता।

* * *

बच्चों का पालन पोषण दो प्रकार से किया जाता है। पहला प्रकार है—"...अमुक काम मत करना, यदि करोगे तो सजा मिलेगी, अमुक कार्य आवश्यक है, यदि नहीं किया, तो भी सजा मिलेगी; हाँ यदि करोगे तो मिठाई मिलेगी।"

उक्त विधि से, जो पशुओं को भी सिखाने के काम में आती है, रकारण भाव पैदा होता है। जब तक बच्चे में पूर्ण व्यक्तित्व का उदय नहीं होता, वह छोटा रहता है, तब तक यह विधि बड़ी उपयोगी साबित होती है। उसके लिए एक कठोर कार्यक्रम की आवश्यकता पड़ती है। बाद की शिक्षा के दृष्टिकोण से यह विधि महत्त्वहीन हो जाती है।

दूसरी विधि कुछ बड़े बालकों के लिए उपयोग में लायी जाती है:—"ऐसा तुम्हें न करना चाहिए, यह तुम्हारी प्रतिष्ठा के विपरीत है, यदि तुम ऐसा करते हो, तो तुम्हारा पतन होगा। यह अच्छा है, इसमें तुम्हारी भलाई है, इससे तुम्हारी प्रतिष्ठा बढ़ेगी—तुम्हारी और दूसरों की दृष्टि में भी। इससे तुम्हें लाभ होगा।" स्पष्ट है कि यह विधि सुसस्कृत मनोवृत्ति के व्यक्ति के लिए ही लाभकर सिद्ध हो सकती है।

उक्त दोनों विधियाँ वयस्कों के लिए भी काम में लायी जा सकती हैं; प्रथम तो नैतिक दृष्टि से अविकसित लोगों के लिए और दूसरी मानव-विकास के अग्रगामी व्यक्तियों के लिए। दुर्भाग्यवश, नैतिक दृष्टि से अधिकांश लोग अपने बचपने से मुक्त नहीं हो पाते। उन्हें बच्चों के समान ही समझना चाहिए। अधिकतर धर्मों का यही दृष्टिकोण है। हमें यह न भूलना चाहिए, कि मानवता को अपने आन्तरिक विकास द्वारा ऊँचा उठना है; यह वाह्य अनुशासन द्वारा नहीं किया जा सकता। हम अधिकाधिक आदर्शवाद के चक्कर में पड़ कर उन लोगों को भी हतोत्साहित न कर बैठे, जिनमें असाधारण गुण पाये जाते हैं तथा जिनमें भावी गुणात्मक परिवर्तन के असाधारण गुण हैं। हमें उन्हें अलग करके उनकी अलग से सहायता करनी चाहिए।

सभ्य लोगों में नैतिक शिक्षा का यह प्रश्न बड़ा ही गम्भीर एवं जटिल है। प्रतिभा अथवा तर्क बुद्धि अनिवार्य शिक्षा से उत्पन्न हो चुकी है। विशेष मस्तिष्क-शक्तिवाले कतिपय लोगों की खोज हो चुकी है। ये व्यक्ति संस्कृतियों को बताने की तदबीर जानते थे। फलस्वरूप असमान संख्या और गुणवाले दो प्रधान वर्ग बन गये। अधिकांश लोगों का प्रथम समूह वह है, जिसने प्रथम और दूसरे स्तर के उपदेशों को सुना तो है, पर पचा नहीं पाये। यह उन लोगों का समूह है, जो इस भ्रम में जीवित रहता है कि किस प्रकार मस्तिष्क का उपयोग करके संतोष प्राप्त करें। किन्तु कभी-कभी यह खतरनाक भी होता है। दूसरे प्रकार के वे लोग हैं, जिन्होंने शिक्षा को अच्छी तरह पचा करके साधारण धरातल से ऊँचे उठने का प्रयास किया है और अपने प्रतिभा-बल के सहारे मानव-ज्ञान को आगे बढ़ाया है।

उक्त दोनों प्रकार के मानव-समूह का अस्तित्व नैतिक और धार्मिक दृष्टि में छोड़-सा दिया गया है। नैतिक शिक्षा मानो आमोद का साधन मान ली गयी है, जो विद्यार्थी की बौद्धिक योग्यता द्वारा प्राप्त करने की वस्तु नहीं है। संस्कृति और बुद्धिगत विभिन्न स्तरों तक इसे लाने का किसी ने प्रयत्न नहीं किया। सभी शिक्षा-केन्द्रों में कुछ चुने हुए नैतिक सिद्धांत बिना किसी आस्था के इस प्रकार शीघ्रता से सिखाये जाते हैं, कि सीखनेवाला परेशान हो उठता है। हम सामाजिक जीवन, वातावरण और रीति-रिवाजों से खोखले नैतिक चरित्र के पाने की आशा करते हैं और गम्भीर मौलिक सुधार नहीं चाहते।

बहुत से धार्मिक स्कूल इतिहास, पूजापाठ, पाखंड आदि पर धर्म के मानवीय

महत्त्व की अपेक्षा कहीं अधिक जोर देते हैं। प्रत्येक चर्च अपने को श्रेष्ठ समझने का दावा करता है और संगठन की अपेक्षा विघटन के तत्त्वों की सविस्तार समीक्षा करता है। कुछ अपवादों को छोड़ कर शास्त्रों के आधार पर नैतिक नियमों का अभिनवीकरण नहीं किया गया। अभिनव शब्द को दोषयुक्त समझने के कारण अनेक चर्च इसका विरोध भी करते हैं। जबसे उनकी स्थापना हुई तभी से उनके यही विचार हैं। लोगों से वे अति दूरस्थ उस भूतकाल में जाने की आशा नहीं कर सकते, जिसकी वे स्वयं आलोचना करते हैं। अब प्रश्न यह है कि वे किस प्राचीन युग को अपनायेंगे? समस्या से पलायन नहीं किया जा सकता। हमें उसका सामना करना होगा। विद्वान हों अथवा मूर्ख, अविकसित मानव-समूह के हों अथवा अल्पसंख्यक गतिशील समूह के, स्कूल के विद्यार्थी तो वही भोजन पाते हैं, जिसे उनमें से अधिकांश पचा नहीं सकते। ईसाई नैतिकता की सुन्दरता, व्यापकता और उसकी आवश्यकता अब वही नहीं है, जो अर्धशताब्दी पूर्व थी। विगत पचास वर्षों में संसार की रूपरेखा में आमूल परिवर्तन हो चुका है, फिर भी इसे स्वीकार करने में झिझक होती है।

मनुष्य की समस्त बौद्धिक संस्कृति सुदृढ़ नैतिक शिक्षा की पृष्ठभूमि पर होनी चाहिए। इसके विपरीत हम अपूर्ण भद्दे महल खड़े करते रहते हैं और ईश्वर से रक्षा की प्रार्थना करते हैं। धर्म-पुस्तकों में लिखा है—"जहाँ दूरदर्शिता नहीं है, वहाँ लोग नाश को प्राप्त होंगे।" यह मनुष्य का कर्त्तव्य है, कि वह दूर-दर्शिता से काम ले। यदि वह असफल रहता है, तो उसके भयंकर परिणाम का भागी होगा। हमारे युग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अधिकांश व्यक्ति धार्मिक दृष्टिकोण से रीति-रिवाजों, दन्तकथाओं और सुन्दर पाखंडों से घिरे हैं, जिनका कोई बौद्धिक आधार नहीं। ऐसा प्रतीत होता है, मानो वे किसी भी प्रयास से डरते हों। इसी कारण से कुछ महान आत्माओं मे प्रायः अप्रिय संघर्ष मिलता है। जब तक विज्ञान पर आधारित बौद्धिक प्रतिभाजन्य समालोचनात्मक भावना विकसित नहीं हुई थी, तब तक स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया था। किन्तु आज ऐसी बात नहीं; बुद्धि-द्वारा प्राप्त प्रगति को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। आश्चर्य की बात है कि कुछ धार्मिक दार्शनिकों अथवा वैज्ञानिकों ने ही इस बात पर जोर दिया है कि प्रगति के साथ हमारा संसार श्रेष्ठ अवश्य बनता जायेगा, लेकिन उसका उद्गम और अन्त रहस्यमय ही रहेगा।

जैसा कि इस पुस्तक के प्रथम भाग मे दिखाया जा चुका है, हमारा बौद्धिक विज्ञान संयोग के स्थान पर कोई इतर कारण की आवश्यकता महसूस करता है

और यह स्वीकारोक्ति कष्टमय होते हुए भी हम सकल्पवादी विचार की स्थापना करते हैं। यह केवल विज्ञान के बारे में सही हो सकता है, किन्तु धार्मिक शिक्षकों को यह बात समझनी चाहिए कि नैतिक और आध्यात्मिक मूल्य अथवा ईश्वर की सर्व समर्थता का भाव विकसित, अविकसित लोगों और मध्य अफ्रीका निवासियों के लिए समान नहीं हो सकते। यह बात अच्छी तरह समझ लेनी होगी कि मौलिक सिद्धात समान रहने पर भी व्यक्ति विशेष की योग्यता के अनुसार उनकी अभिव्यक्ति होनी चाहिए।

स्कूल के विद्यार्थी और विश्वविद्यालय में पढ़नेवाले व्यक्ति के लिए एक शब्द समान अर्थ नहीं रखता। एक-सा भोजन देने पर भी हमें परस्पर विरोधी प्रभाव मिलते हैं। व्यक्ति के उस प्रयास को हम नियंत्रित नहीं कर सकते, जिस पर प्रगति आश्रित रहती है। शारीरिक विकास और नैतिक एवं मानसिक विकास में महत्त्वपूर्ण अन्तर है। विकसित मनुष्य सीखने के लिए आतुर रहता है। जब वह जीव, जगत, जीवन, मनुष्य आदि के सम्बन्ध मे विचार करता है, तो उसे महान नियमों की व्यापक समरसता का ज्ञान होता है, जो समस्त विश्व का नियंत्रण करती है। मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में शारीरिक अनुकूलता और प्राकृतिक चुनाव व्यक्तिगत प्रयास और स्वतंत्र इच्छा ले लेती है। शारीरिक विकास और मानसिक विकास, दोनो के लिए संघर्ष अनिवार्य है, लेकिन दोनों की प्रक्रिया में भिन्नता है। केवल मनुष्य ही दोनों प्रकार के सघर्ष करने में सफल है। इस संघर्ष में उसके अस्त्र हैं मस्तिष्क और बुद्धि, जो शरीर, नैतिक इच्छाओं तथा विकास की सुरक्षा करती हैं।

हम देख चुके हैं कि परम्परागत तत्त्व के कारण शारीरिक विकास की अपेक्षा मनुष्य का नैतिक स्तर पर विकास बड़ी शीघ्रता से हुआ है। परम्परा का आधार शिक्षा और उपदेश हैं। इसलिए इन्हीं के द्वारा हमें अपना सुदूर और निकट का भविष्य बनाना चाहिए। आज की संकटकालीन समस्या है, हमें अपने को, स्वतंत्र ईसाई सभ्यता को, अपने आदर्शों तथा विश्वासों को महानाश से बचाना। आक्रमणकारी राष्ट्रों द्वारा पैदा की हुई समस्यायें हमारे सामने हैं।

इसे हम अपनी औद्योगिक गतिविधि को सीमित करके अथवा अन्य तरीकों से नहीं रोक सकते। इसे तो सर्वमान्य शिक्षा के आदर्शों की स्थापना करके ही रोका जा सकता है। यह बड़ी आवश्यक बात है कि समस्त राष्ट्र एक दिन बैठ कर स्कूल और विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों का अन्तर्रा-ी-करण कर डालें। इतिहास की पुस्तकों के स्थान पर वे पुस्तकें रखी जायें, जिनमें सत्य हो,

उत्तरदायित्व हो, जहाँ नैतिक आदर्श और मानव-सम्मान की शिक्षा दी जाय और वीरपूजा की कहानियाँ खत्म हो जायँ। इसके लिए अपने अहंकार के महान त्याग की आवश्यकता है, भले ही यह उन लोगों के प्रति अकृतज्ञता हो, जो अपने देश के लिए मरे। हम समझते हैं, एक दिन अवश्य ऐसा आयेगा, जबकि नवयुवक एक ही मानसिक खाद्य और एक ही इतिहास पायेंगे, और तभी दुनिया वास्तविक शान्ति प्राप्त करेगी; उसके पूर्व नहीं।

भावी महायुद्धों की रोक-थाम स्कूलों से शुरू होनी चाहिए। यदि समय के पूर्व यह न किया गया, तो किसी भी संघर्ष के लिए सरकारें ही उत्तरदायी होंगी; और आज का वीर से वीर मानव भी युद्ध के होनेवाले रूप की कल्पना से काँप उठता है।

शिक्षा प्रगति का अस्त्र है, जो मानव-विकास का एक अस्त्र है, लेकिन यह व्यक्तिगत, राष्ट्रीय एवं राजनैतिक संघर्ष की धुरी बन गया है। मानवता के नाते उचित सीमाओं के भीतर शिक्षा का अराष्ट्रीयकरण अवश्य हो जाना चाहिये। क्या राष्ट्र उस महानाश की विभीषिका का अनुभव करेंगे, जो स्कूलों के ही द्वारा दैत्याकार में परिवर्तित कर दी गयी थी। हर एक आदमी स्वीकार करता है कि प्रचार लोगों के मस्तिष्क में घृणा के बीज बोने का प्रमुख साधन है। और, एक बार जहाँ जनता में यह दरार पड़ी, कि रुकना असम्भव हो जाता है। जोशीले सरल स्वभाव के बालकों पर यही घृणास्पद तरीके जब इस्तेमाल किये जाते हैं, तो उनके भयंकर परिणाम स्वाभाविक हैं। जातिगत और राष्ट्रीय अभिमान की प्रवृत्ति को बड़ी जल्दी प्रोत्साहन मिल जाता है। बच्चे का मस्तिष्क उचित-अनुचित किसी भी विचार के लिए तैयार रहता है। परम्परा के सम्पर्क में रहने के कारण उनमें खतरनाक प्रवृत्तियाँ शीघ्रता से पनपती हैं। परिपक्व मस्तिष्क बनने के लिए जीवन और विचार की आवश्यकता होती है। अब तक तानाशाहों ने, चाहे उनकी नकाब कोई भी क्यों न हो, इस बात को पहिचाना और झूठ के महल खड़े किये। यदि संसार भर के स्कूलों में केवल सत्य सिखाया गया होता, तो किसी भी तानाशाही राज्य का जन्म नहीं होता। हम स्कूलों के द्वारा ही उस नुकसान को पूरा कर सकते हैं, जो स्कूलों के द्वारा हुआ है।

समस्त संसार में इतिहास की गलत शिक्षा दी गयी है। विदेशी सत्ताओं से संघर्ष का वर्णन करते समय और तथ्यों को बतलाते समय अत्यधिक पक्षपात किया गया है। यह प्रत्येक देश में हुआ। अमुक देश ठीक मान लिया गया और शत्रु को गलत मान लिया गया। इसे स्वाभाविक माना जा सकता है।

लेकिन यदि इतिहास की रचना गलत आधार पर हो और घटनाओं को गढ़ा गया हो, तो यह बहुत खतरनाक होगा, क्योंकि सभी बच्चे उसे पढ़ने के बाद या तो अपने को जुल्म का शिकार समझेंगे या महान जाति के महान सुपुत्र। अपने बाद के जीवन में इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न अहं को वे कभी नहीं भूल सकते, जो कि उनके जीवन का अभिन्न अंग बन जाता है।

सभी ऐतिहासिक पाठ्य पुस्तकों मे ऐतिहासिक घटनाएँ विना पूर्व-सम्बन्ध के रख दी जाती हैं, यद्यपि घटनाओं की तारीख और उत्तरदायित्व विपरीत रूप में मिलते हैं।

बीसवीं शताब्दी में भी देशों के कौतुकपूर्ण कारनामें मिलते हैं। इन देशों की रुचि और इच्छा तो शान्ति की ओर दिखाई पड़ती है, किन्तु विषय बच्चों को इस प्रकार पढ़ाये जाते हैं, जिससे उनके अपने पड़ोसी राष्ट्र तथा मित्र राष्ट्रों के प्रति द्वेष-भावना पैदा हो जाती है। नन्हे-मुन्ने बच्चों का मस्तिष्क अधिक क्रियाशील होने के कारण उनका द्वेष भी अधिक क्रियाशील हो उठता है।

इतिहास की पुस्तक एक बलवान शस्त्र है, जिसका महत्त्व शीघ्र ही अधार्मिक नेताओं ने पहिचान लिया। हम उन व्यक्तियों से किस प्रकार सहयोग की आशा कर सकते हैं, जिनके मस्तिष्क विपरीत विचारों और तथ्यों से भरे हैं। वर्ग-संघर्ष और महायुद्ध, ये सब कुमार्ग पर चलने का परिणाम है। सही इतिहास की पुस्तक केवल सार्वभौम ऐतिहासिक पुस्तक हो सकती है। कुछेक अमहत्त्व-पूर्ण स्थानीय घटनाओं को छोड़ कर किसी भी देश में ऐसा कोई कार्य नहीं होता, जिसका सम्बन्ध दूरस्थ देशों की घटनाओं से न हो। किसी भी राष्ट्र का आर्थिक, राजनैतिक एवं सैनिक जीवन उनके पड़ोसी राष्ट्रों के अनुरूप होता है। इतिहास-वृक्ष की जड़े चारों ओर फैली होती हैं। कहीं ये जड़ें मजबूत होती हैं, कहीं कमजोर। परस्पर सम्बन्धित असंख्य शक्तियाँ अचेतन रूप से दूसरे की गतिविधि में भाग लेती रहती हैं। आज भी यह उतना ही सत्य है, जितना कि शताब्दियों पूर्व था। भविष्य में भी इसका महत्त्व रहेगा। संसार-शरीर की नसों और धमनियों द्वारा, जो ऊपर से दिखाई नहीं देतीं, समस्त राष्ट्र विभिन्न अंगो के रूप मे सम्बन्धित हैं। किसी एक देश के इतिहास को शेष देशों से असम्बन्धित रखने का अर्थ है, उस देशरूपी अंग को शरीर से अलग करके उसे निर्जीव बनाना। फिर भी इतिहास सिखाने का यही तरीका सभी जगह अपनाया जाता है। ऐसे तथ्य रख दिये जाते हैं जिनकी

व्याख्या किसी भी प्रकार से हो सकती है। इसीलिए वे राष्ट्रीय, जातिगत, राजनैतिक और दूसरे अवगुण घृणा-द्वेष को बनाये रखते हैं।

ससार का सच्चा इतिहास अवश्य प्रचारित होना चाहिए। उसका अध्यापन, राष्ट्रीय अभिमान को अलग रखते हुए, विज्ञान की भाँति होना चाहिए। उन सभी भावनात्मक तत्त्वों को निकाल देना चाहिए, जो सकट की जड़ें बन जाते हैं। आजकल एक बच्चे के समक्ष ऐसे सैकड़ों अवसर आते हैं, जब वह अपने देश पर अभिमान कर सकता है, किंतु ईमानदारी और निष्पक्षता की बड़ी आवश्यक्ता है। इसकी आवश्यकता यूरोपीय देशों में अत्यधिक है, जहाँ इतिहास के नाम पर घृणा पिछली शताब्दियों मे खूब फूली-पनपी।

यदि ऐसा नहीं किया गया तो हमारी हालत उस मनुष्य के समान होगी, जो पहिले तो एक गढ़ा खोदता है और फिर उस गढ़े को भरने के लिए दूसरा गढ़ा खोदता है। यह गोरखधंदा मात्र है। सबसे अच्छी बात यह है, कि हम मौलिक दुर्गुणों के प्रति आँखें न बन्द किये रहें, जो समस्त गतिविधियों को हमारे अनुभव के पहले ही नष्ट कर देते हैं।

अध्याय –१६

क—संकल्पवादी मान्यता (सारांश)
ख—मनुष्य का भाग्य

इस पुस्तक में प्रतिपादित विचारों के मंथन स्वरूप कतिपय निर्णयों के व्यावहारिक पहलुओं पर दृष्टिपात करने के पूर्व उनकी आधारभूत प्रमुख मान्यताओं को सक्षेप में देख लेना उचित होगा।

सर्व प्रथम हमने पांच मौलिक तथ्यों को देखा—अत्यन्त सरलतम रूप में जीवन का प्रारम्भ, अत्यधिक जटिल रूप की ओर विकास, इस दीर्घकालीन विकास का फल—मानव और मानव मस्तिष्क, नैतिक एवं आध्यात्मिक भावों का उदय तथा पृथ्वी के विभिन्न भागों में एक साथ इन भावों का उदय।

अब तक इन तथ्यों की वैज्ञानिक व्याख्या नहीं की जा सकी। यदि हम इनके बीच परस्पर सम्बन्धों की स्थापना नहीं करते, तो निश्चय ही मान्यता अपूर्ण रहेगी। सकल्पवादी सिद्धांत से विकास और उसके रूपों के सम्बन्ध ठीक बैठ

जाते हैं। यह इस सिद्धांत की प्रतिष्ठा करता है की मनुष्य द्वारा बनाये वैज्ञानिक नियम वास्तविक जगत के अनुरूप हैं। यदि समस्त विज्ञान का त्याग न भी किया जाय, तो भी कतिपय गणित सम्बन्धी असम्भावनाओं पर विचार अवश्य किया जा सकता है। इसका आधार है—जीव के जन्म की असम्भावना, विकास तथा संयोगवश मस्तिप्क की गतिविधि की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ।

यद्यपि कतिपय तथ्य हमारी पकड़ के बाहर हैं, फिर भी प्राणी के विकास की कहानी विज्ञान-क्षेत्र में सबसे अधिक प्रदर्शित एवं असंदिग्ध सत्य है। यह कहानी बतलाती है, कि किस प्रकार हजारों-लाखों वर्ष तक चलनेवाली विकास की प्रक्रिया में अकस्मात मनुष्य हुआ और उसके अमूर्त भावों के उदय से विक्षोभ उत्पन्न हुआ और मनुष्य का विकास रुक गया, जबकि इतर प्राणियों में जारी रहा। यह केवल परिवर्तन एवं अनुकूल बनने की प्रक्रिया तक ही सीमित है। मनुष्य में सबसे महान परिवर्तन मस्तिष्क का उदय होना है। इसलिए यह निर्णय स्वाभाविक होगा कि मनुष्य का भावी विकास इसी के द्वारा होगा, इसी के द्वारा वह दूसरे प्राणियों तथा जगत पर शासन करेगा। यह स्वीकार करना होगा कि इसके बाद विकास शारीरिक न होकर मनोवैज्ञानिक होगा। हम अपनी निर्देशन-व्यवस्था में, मनोवैज्ञानिक घटनाओं के निरीक्षण से मन के ढाँचे की जटिलता का अनुमान लगा सकते हैं। अमूर्त, नैतिक व आध्यात्मिक भावों के सुधार एवं परिष्कृत होने में ही मनोवैज्ञानिक विकास की अभिव्यक्ति है।

लेकिन प्राणी के विकास का प्रकार अन्य भौतिक जड जगत के नियमों से मेल नहीं खाता (अध्याय ४)। यह ताप-विज्ञान के 'द्वितीय नियम' के अनुकूल नहीं, जो सयोग पर आधारित विज्ञान की चाभी है। विकास एवं उसके कारण हमारे विज्ञान-क्षेत्र की वस्तु नहीं हैं। पृथ्वी का कोई भी वैज्ञानिक इस तथ्य को अस्वीकार नहीं कर सकता। पृथ्वी पर जीवन के उदय के बाद की घटनाओं का मूल्यांकन करने के लिए हमने "अ-सयोग" की सहायता ली जो मानव मस्तिष्क में उत्पन्न होनेवाली अनेक जटिल समस्याओं का समाधान कर देता है। यह मान्यता उच्चतम आदर्श की स्थापना करती है, इसके द्वारा दीर्घ-काल तक चलनेवाली प्रक्रिया का समाधान मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ से ही मनुष्य, उच्चतर प्राणी के रूप में नहीं, बल्कि मस्तिप्क के सहयोगी के रूप में विकसित होता रहा, जो कि चेतना, बुद्धि, मानव-सन्मान और भावी विकास का मूल स्थान है। अपने मस्तिप्क की स्थिति के अनुसार मनुष्य विकास की मंजिल की अन्तिम सीढ़ी पर नहीं, बल्कि वर्तमान और

भविष्य के बीच की माध्यमिक अवस्था में है, जिसमें मानव-भाग्य के लिए आशाएँ छुपी हैं।

यह प्रवृत्ति विकास में स्वयं व्यक्त होती है, और इसका उद्देश्य पूर्ण नैतिक मानव की प्राप्ति है, जो मानवगत अहं तथा लालच आदि गुणों से सर्वथा मुक्त हो और वंशगत एवं भौतिक सीमाओं से स्वतंत्र हो। इसका अर्थ शरीर से स्वतंत्र आत्मा की सत्ता स्थापित करना नहीं है। यह निरर्थक होगा, क्योंकि शरीर से स्वतंत्र आत्मा की सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि आत्मा भौतिक प्रवृत्तियों से मुक्त हो।

इस प्रकार विकास के इस नैतिक एवं आध्यात्मिक पहलू का विरोध करनेवाली कोई भी बात, जो मानव को पशु-स्तर की ओर प्रवृत्त करती है और मानव को शरीर का दास बना देती है, निश्चय ही शैतान का प्रतीक है। इसके विपरीत पशु और मानव के बीच खाई को चौड़ी करनेवाली तथा मनुष्य को आध्यात्मिक स्तर पर उठानेवाली बात अच्छी होगी।

मानव के निर्माण होने तक विकास का मुख्य कार्य विभिन्न अंगों एवं मस्तिष्क को पूर्ण करने का था, ताकि वे सुरक्षित रूप ले सकें। मनुष्य के पूर्व समस्त प्राणी उत्तरदायित्वहीन कठपुतली के समान थे, जो अपने कर्त्तव्य को न तो समझते थे और न समझने का प्रयास ही करते थे। किन्तु मनुष्य अपने कर्त्तव्य का पालन करने के साथ उसे समझना भी चाहता है। वह अपने स्वयं को पूर्ण बनाता है। केवल मनुष्य ही ऐसा कर सकने में समर्थ है। स्वतंत्रता सुधार के लिए अत्यन्त आवश्यकता है। विकास में मनुष्य का स्थान इसी बात पर निर्भर करता है, कि कहाँ तक वह अपनी स्वतंत्रता का उपयोग कर सकता है।

मनुष्य का एक उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्ति में परिवर्तन होना एक नयी घटना है, जो उसकी दूसरी विशेषताओं में एक प्रमुख विशेषता है। प्राचीन विकास की प्रक्रिया–प्राकृतिक चुनाव–फिर से आरम्भ होगी, लेकिन अब शारीरिक विकास की मन्द गति पर अधिक रहने के बजाय, प्राकृतिक चुनाव का आधार चेतना होगी; मस्तिष्क की गतिविधि हम सबों की प्रगति का आधार होगी। प्राप्त हुए विकास के स्तर के अनुसार हमें उन्नति अथवा अवनति को पसन्द करना होगा। हमारी पसन्द ही हमारी पूर्णता की प्रतीक होगी।

यदि मानव पशुता एवं अमानवता के प्रति संघर्ष में सफल होता है, तो निश्चय ही वह मानवीय सम्मान के पद को प्राप्त करेगा। यदि वह ऐसा करने में असफल रहा, तो वह अपने को सामान्य हितों के अयोग्य साबित करते हुए

विकास-क्रम से अलग हट जायगा। प्राकृतिक चुनाव अपना कार्य कर चुका। विकसित मानव के लिए भौतिक आकर्षण शत्रु तुल्य है, जो प्राकृतिक बाधाओं का स्थान ले लेता है। प्राकृतिक बाधाओं से तो पशुओं को भी अपनी क्षमता सिद्ध करने के लिए संघर्ष करना पड़ा था।

इसलिए केवल उच्च मानव ही, जो अल्प संख्या में पाये जाते हैं, पशुओं से भिन्न हैं। और यही तो विकास का प्रमुख कारण प्रतीत होता है। इसीके द्वारा पूर्ण प्राणी का निर्माण होना शेष है, जिसकी कल्पना आज सम्भव नहीं; फिर भी उसकी शक्ति इतनी अधिक मालूम होती है कि लोग अपने आदर्शों के लिए मर मिटना पसन्द करते हैं। प्रत्येक मानव का परम कर्त्तव्य अपनी योग्यता के अनुसार इस विकास के नवीन युग में सहयोग देना है। प्रयास का स्वयं अपना मूल्य है। किसीको अपने सहयोग से तब तक चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं, जब तक वह अपने कर्त्तव्य के प्रति ईमानदार है। उसके जीवन का महत्त्व इस प्रकार विश्वव्यापी हो जाता है। अब वह उत्तरदायित्वहीन, पानी पर तैरने वाले बोतल के काग की भाँति अनियंत्रित प्रभाव को स्वीकार कर लेनेवाला नहीं, बल्कि उन्नति अथवा अवनति के प्रति सजग रहनेवाला महान कार्य का सहयोगी है। मनुष्य की समस्त श्रेष्ठता का उद्गम यही स्वतंत्रता है, जो पशुओं को अप्राप्य है। वह अपने पर अभिमान कर सकता है........।

* * *

विकास की इस व्याख्या के स्वाभाविक परिणाम क्या होंगे? स्पष्ट तथा सविस्तर विवेचन के लिए उन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम—दार्शनिक; दूसरा—मानवीय एवं सामाजिक; तीसरा—व्यक्तिगत और नैतिक।

दार्शनिक निष्कर्ष

सर्वप्रथम निष्कर्ष नैतिक भावों का तथ्यों में परिवर्तन होना है, ताकि उनका सम्बन्ध वैज्ञानिक घटनाओं से हो सके। शरीर और शरीर-रचना की भाँति इन दोनों का सम्बन्ध विकास से था, जो अब तक प्रगति की कसौटी थे।

विश्व-एकता का भाव सतोषजनक है, क्योंकि वह हमारे द्वारा कल्पित संसार में एक समरसता पैदा करता है। पुस्तक के प्रारम्भ में कहा गया था, कि जटिल घटनाओं की सरल प्रकार से सामान्य व्याख्या करना हमारे बौद्धिक

चिन्तन की एक सामान्य प्रवृत्ति है । इस प्रकार मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक क्षेत्र वैज्ञानिक क्षेत्र बन जाते हैं, और विज्ञान को एक नवीन बौद्धिक क्षेत्र में प्रवेश पाने की अनुमति मिल जाती है, जिसका अन्त धर्म में होता है । तार्किक मार्ग से धर्म कई हजार वर्ष पूर्व नैतिक निर्णयों पर जा पहुँचे थे । इससे प्रमाणित होता है कि बौद्धिक प्रक्रिया की गति दूसरी गति की अपेक्षा बहुत मन्द है ।

अन्तर्ज्ञान और बौद्धिक ज्ञान की एकता की बड़ी आवश्यकता है । इसके लिए विज्ञान को व्यापक बनने की जरूरत है और धर्म को स्पष्टीकरण करने की । धर्म उन अन्धविश्वासों को उखाड़ फेंके, जिनके कारण अधिकांश ईमानदार व्यक्ति धर्म-विरोधी बने हैं । इस स्पष्टीकरण का सरल अर्थ शास्त्रों की ओर लौटना है, और यह असभ्य तरीके से न होकर मनुष्य के विकास के साथ-साथ विकासोन्मुख होना चाहिए । यह स्पष्ट है कि सापेक्षवाद के सिद्धांत की अपेक्षा ईसाई अथवा किसी भी धर्म के शुद्ध सिद्धान्तों को स्वीकार करना बहुमत के लिए सम्भव नहीं हो सकता । किन्तु सापेक्षवाद को जनता त्याग सकती है, पर धर्म को नहीं । फिर भी संख्या को गुणों पर हावी न होना चाहिए । अधिक संख्या में अनुयायी बनाने की इच्छा के कारण इस तथ्य को भूल नहीं जाना चाहिए कि अपना परम लक्ष्य अपने व्यक्तिगत तथा बौद्धिक प्रयास द्वारा व्यक्ति का सुधार करना है, न कि अनुयायियों की संख्या बढ़ाना, जो नरक से बचने के उद्देश्य से बाह्य आडंबरों का पालन करते हैं ।

हम संक्रमण काल में हैं । कुछ व्यक्तियों के लिए अपने को सुधारना बहुत कठिन होता है । बच्चे तुरन्त अपने को वातावरण के अनुकूल बना लेते हैं, जबकि वयस्कों के लिए कभी-कभी यह असम्भव हो जाता है । यह बात जीव-विज्ञान, तर्कशास्त्र, समाजशास्त्र, औद्योगिक, बौद्धिक अथवा धर्म, सभी क्षेत्रों के बारे में सत्य है ।

इसलिए प्रारम्भ बच्चों और फिर विद्यार्थियों से होना चाहिए । इसके लिए सर्वप्रथम योग्य अध्यापकों का चुनाव आवश्यक है, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं । अमेरिका की अपेक्षा कतिपय यूरोप के देशों में समस्या अधिक गम्भीर है, जहाँ कि क्रान्तियों ने धर्म की स्थिति को कमजोर बना दिया है । वहाँ के साधारण शिक्षक एक खतरे के रूप में ही हैं, जैसा कि कई बार देखा जा चुका है; क्योंकि वे शिक्षक विज्ञान की दृष्टि से पुराने पड़े हुए भौतिकवाद पर विश्वास करते हैं, जिसका फल यह होता है कि कुछ अपवादों को छोड़कर वे नास्तिक

हो जाते हैं। यदि हम तबाही को बचाना चाहते हैं तो यह प्रयत्न करना होगा कि अध्यापकों के मस्तिष्क में किसी भी प्रकार का, धर्म और विज्ञान के परस्पर, कलह का भाव न रहे। उसे स्पष्ट मालूम होना चाहिए कि आधुनिक विज्ञान के प्रकाश में इस द्वन्द्व का कोई अस्तित्व नहीं। यह तभी सम्भव हो सकता है, जबकि उसकी सांस्कृतिक धारणायें पूर्णतः सामाजिक अथवा राजनैतिक प्रभावों से मुक्त हो। वे ज्ञान के वर्तमान स्तर पर आधारित हों—५० वर्ष पूर्व के विज्ञान पर नहीं।

यदि हम इस दिशा में प्रयत्न नहीं करते, तो स्वतंत्रता एवं बुद्धि के शत्रुओं को फिर नवीन बुद्धिवादी रूप में देखेंगे, जिनके विरुद्ध बुद्धिवाद ने विद्रोह किया था। ऐसा हो भी चुका है। भावात्मक शोरगुल विचारों की अपेक्षा मनुष्य को कहीं अधिक प्रभावित कर लेता है। और इसे व्यक्त करनेवाले शब्द अथवा विचार जन-समाज का नारा बन जाते हैं। उचित प्रतिक्रिया इस कदर छा जाती है, कि पहले तो परिणाम अच्छा होता दिखाई पड़ता है, किन्तु थोड़े समय के पश्चात् फिर वही पुरानी हरकतें शुरू हो जाती हैं, नये सिद्धांत के नाम पर विपरीत बातें घटित होने लगती हैं।

प्राचीन युग में धर्म के कारण नहीं, बल्कि मानव-स्वभाव के कारण असहनशीलता व रूढ़िवादिता को प्रोत्साहन मिला। चाहे कारण कुछ भी हो, जनसमूह में प्रतिक्रिया सदैव एक-सी ही होती है। वे क्रोध तथा जोश से बड़ी जल्दी प्रभावित हो जाते हैं, जो शीघ्र पागलपन में बदल जाता है। यदि एक कैदी अपने जेलर को कैदी बनाने का स्वप्न देखता है, तो यह काम वह कानून के नाम पर नहीं, बल्कि स्वतंत्रता के नाम पर करेगा। जब साधारण व्यक्ति आजादी की बात करता है, तो प्रथम वह अपनी ही आजादी देखता है। बहुत ही ऊँचा और परिष्कृत व्यक्ति ही दूसरों की आजादी की रक्षा करेगा।

धूर्तता-छल-कपट से भरे ये नियम सदा चलते रहेंगे। उत्साह और कोलाहल कानून और स्वतंत्रता का स्वागत तब तक करते रहेंगे जब तक ये दोनों शब्द प्रत्येक मनुष्य के हृदय में अपने कर्त्तव्य तथा उत्तम विचारों की बजाय क्षणिक स्वार्थ की भावना जाग्रत रहेगी। दूसरे शब्दों में, जब तक कि इन विचारों—और इन्हीं के समान दूसरे विचारों—की प्रतिष्ठा मानवीय सन्मान की दृष्टि से नहीं होती।

सकल्पवादी मान्यता का दूसरा दार्शनिक परिणाम होगा—आत्मा और शरीर का पृथकत्व। यह विश्वास का नहीं, बल्कि वैज्ञानिक सत्य का विषय है कि भविष्य में शरीर का विकास नहीं, प्रत्युत आत्मा का विकास होगा।

हमें गलतफहमी न होनी चाहिए। प्राचीन आत्मावादी मत से उक्त कथित पृथक्त्व सर्वथा भिन्न है। यह मत स्वीकार्य नहीं कि आत्मा शरीर में रहनेवाली, शरीर से स्वतंत्र सत्ता रखती है। इससे हमारा अभिप्राय यह है कि जीव-कोषों से निर्मित मस्तिष्क का विकास होता है। लेकिन यह अंग अपने विकास की उस सीमा पर आ गया है, जहाँ इसकी भौतिक, रासायनिक एवं शारीरिक गतिविधि स्वतः विभिन्न स्तर पर घटित होने लगी है। हम उसे मनोवैज्ञानिक स्तर कहते हैं, जो प्रत्यक्ष अनुभवगम्य है। बिना किसी बीच की स्थिति के उसका अस्तित्व हमारी अनुभूति से मिल जाता है। मस्तिष्क का रूप अथवा जीवकोषों के रासायनिक संगठनों का रूप हमारे लिए अज्ञात है। यद्यपि इसका निरीक्षण सम्भव है, पर वह बीच की उन ज्ञानेन्द्रियों द्वारा दी गयी जानकारी पर होगा। दूसरे शब्दों में यह दृश्यगत जानकारी, जो मस्तिष्क के जीव-कोषों से सम्बन्धित है, व्याख्या के लिए विचारों का हस्तक्षेप वहन करेगी, अर्थात् मस्तिष्क के जीव-कोषों की स्वतः गतिविधि। निकट भविष्य में हम गतिशील मस्तिष्क के कार्य की गतिविधि को देखने की आशा न करें। उसकी शारीरिक जाँच-पड़ताल भी सम्भव नहीं, क्योंकि तब तो विषय—मस्तिष्क—ही मुर्दा हो जायेगा। दूसरे तरीकों में भी काफी अटकलबाजियों की आवश्यकता पड़ेगी। इसके विपरीत हम अपने विचारों का संयोजन, आलोचना आदि बिना किसी परेशानी के कर सकते हैं और उनका सुधार कर सकते हैं।

मस्तिष्क के विकास का पता अमूर्त, नैतिक विचारों तथा भौतिक प्रवृत्तियों पर विजय पाने की कामना आदि से लगता है। हम इस विकास को केवल मानसिक गति द्वारा एवं इच्छा के द्वारा आगे बढ़ा सकते हैं। जब हम अभौतिक मसलों पर किसी से चर्चा करते हैं, तो हमारे मस्तिष्क के जीव-कोषों में उत्पन्न परिवर्तन उस मनुष्य के मस्तिष्क में एक प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। यह प्रतिक्रिया मनोवैज्ञानिक होती है और किसी भी भौतिक परीक्षण अथवा माप की पकड़ में नहीं आ पाती। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, यदि हम इच्छा के स्थानान्तरित होने में व्यय हुई शक्ति को मापने में समर्थ हो भी गये, तो भी हम उसके गुणात्मक पहलू से अपरिचित ही रहेंगे। 'हाँ' और 'ना' कहने में यान्त्रिक प्रयास एक होते हुए भी उनके प्रभाव का व्यय हुई शक्ति से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता।

हम मानवीय विचारों का पोस्टमार्टम रासायनिक अथवा यान्त्रिक तरीके से कर सकते हैं, फिर भी व्यवस्थित प्रकार से नहीं कर पाते। हम मस्तिष्क

सम्बन्धी आपरेशन कर सकते हैं, बिगाड़ सकते हैं, अच्छी तरह से उसकी मरम्मत कर सकते हैं; लेकिन बिना किसी विशेष गतिविधि के न तो हम मस्तिष्क की गतिविधि को सुधार सकते हैं और न उसे पूर्णता प्रदान कर सकते हैं। हम एक विचित्र स्थिति पाते हैं—मानसिक स्थिति, जो भौतिक, रासायनिक एवं जीव-जगत के नियमों का संयोग है; लेकिन उसकी गतिविधि प्रत्यक्ष रूप से उसी पर आश्रित है। और यदि हमारी मान्यता ठीक है, तो यह आधार निश्चित रूप से विकास के नियम हैं।

धर्म की भाषा में यही बात इस रूप में कही जाती है—"मानसिक नियमों द्वारा मैं स्वयं ईश्वरीय नियमों का पालन करता हूँ; लेकिन शरीर से पाप के नियमों का।" (पाल, रोमन्स ७ : २५) यह सरल मार्ग पहाड़ी गुफा का-सा मार्ग है। बिना किसी दृश्य को देखे उसकी मंजिल को पाया जा सकता है। लेकिन अधिकांश बुद्धिमान लोगों के लिए इस प्रकार तब तक संतोष नहीं हो पाता, जब तक वे समस्त मार्ग पर चल कर नहीं देख लेते। मनुष्य अपने आत्म-ज्ञान के बारे में पूर्णतः परिचित नहीं है और अभी तक अविश्वास करता है।

ज्यों ही हम इस विच्छेद को स्वीकार कर लेते हैं, त्यों ही मानसिक एवं भौतिक तत्त्वों का भार बढ़ जाता है। कोई भी मनुष्य इस बात का अनुभव कर सकता है कि कोई उच्च प्रेरणा ही हमारी वैज्ञानिक धारणाओं के पीछे कार्य करती है। हमारी बौद्धिक गतिविधि को इसे अवश्य स्वीकार करना और उसे अपने द्वारा निर्मित विश्व की रूपरेखा में स्थान प्रदान करना चाहिये। हमें अपनी असीम भावनागत शक्ति के मूल्य को पहिचानना चाहिए; इच्छा के उस अमूर्त रूप को समझना चाहिए, जो हमसे आगे चली जाती है। हमारी हार्दिक इच्छा नैतिक प्रगति की है। इसके लिए हमें अपने हृदय के अन्दर मन्दिर की स्थापना करनी होगी। इसके बिना समस्त बाह्य अभिव्यक्तियाँ निरर्थक होंगी।

हम इस बात का दावा नहीं करते, कि केवल हमारा यह व्यक्तिगत प्रयास मात्र ही पर्याप्त होगा। हम तो इतना ही कहते हैं कि यह आवश्यक है। इस प्रयास को ही काफी मान लेने का अर्थ यह होगा, कि मनुष्य इसके द्वारा विकास की मंजिल की ओर, आत्मा के उच्चतर स्तर को प्राप्त कर लेगा। यह असंभव है; क्योंकि तब वह विकास का नियन्ता ही बन जायेगा। वह तो विकास से केवल सहयोग ही कर सकता है। विकास के उचित दिशा में अग्रसर होने के लिए अनुकूल बनने की प्रवृत्ति के बावजूद भी असयोग की नितान्त आवश्यकता है। भौतिक विकास के सिलसिले में इसकी आवश्यकता उचित चुनाव के लिए भी

पड़ती है, जिससे विशेषताओं का संयोजन एवं प्रसार हो सके।

प्राकृतिक चुनाव, अनुकूल बनने की प्रवृत्ति और नवीन प्राप्त विशेषताओं तथा व्यक्तिगत प्रयासों के कारण विकास की गति सर्वत्र समान नहीं पायी जाती। नयी गति अपेक्षाकृत अधिक गतिशील रहती है। दैवी संयोग का हस्तक्षेप एक प्रकार से इस गति में अत्यधिक 'मितव्ययता' ला देता है। प्राणियों के साधारण एवं स्वाभाविक विकास में प्रथम तो वातावरण के अनुकूल तथा सम्भावित हल के फलस्वरूप संख्या बढ़ती है। फिर उपयुक्त रूप की संख्या औसतन कम होने लगती है। यही बात हम चेम्पियनशिप में पाते हैं जहाँ बहुत से खिलाड़ियों की संख्या घटते-घटते थोड़ी रह जाती है—अन्त में एक सर्वश्रेष्ठ रह जाता है। हजारों लाखों अंडों में, उपयुक्त रूप की प्राप्ति के बाद अधिकांश नष्ट हो जाते हैं और केवल थोड़े-से बच रहते हैं। जैसा कि परम्परा और वाणी के सम्बन्ध में कहा जा चुका है, ये सब बातें स्वाभाविक-सी लगती हैं। पर मानव के बच्चे अपने प्रयास के द्वारा लाभ प्राप्त कर लेते हैं। प्रत्येक पीढ़ी को काफी समय मिल जाता है, प्रत्येक व्यक्ति को निषेध मिल जाते हैं; शिक्षा मिल जाती है। अब वह अपने पूर्वजों के अनुभवों का पूरा-पूरा फायदा उठाता है। मनुष्य के लिए समय का मूल्य भी कम हो गया है, समय को नापने का पैमाना भी अब उसका अपना है।

यद्यपि व्यक्तिगत विकास की प्रक्रिया में तेजी आती है, तो भी भौगोलिक विकास का आधार चेतना नहीं होगी। बल्कि उसका आधार तो साधारण विकास होगा। मनुष्य अपनी चेतना, इच्छा और ईमानदारी से इस चुनाव में सहयोग तो दे सकता है, पर इसे अपने लिए नहीं बना सकता।

मानवीय एवं सामाजिक निष्कर्ष

प्रत्येक मनुष्य को अपनी योग्यता व शक्ति के अनुसार अत्यधिक पूर्ण मानवीय आदर्श की प्राप्ति की ओर बढ़ना चाहिए। केवल अपनी आत्मा की सुख-शान्ति के लिए नहीं, बल्कि उच्चतम मानव जाति के विकास के लिए, जिसकी पुष्टि विकास से होती है।

स्वभावतः यह सिद्धान्त मनुष्यों के बीच एक नया सम्बन्ध—विश्वबन्धुत्व—स्थापित करता है। मनुष्य को इस सर्वसाधारण कार्य में अवश्य सहयोग देना चाहिए। व्यक्तिगत उद्देश्य सामान्य उद्देश्य से सम्बन्धित है। यह मनुष्य का त्याग नहीं, बल्कि प्रयास की पूंजी लगाना है। व्यक्तिगत और सामान्य स्वार्थ का

मिलन केवल नैतिक एवं आध्यात्मिक स्तर पर सम्भव हो सकता है। समाजशास्त्रियों ने इस प्रश्न का अध्ययन किया, पर वे कोई समाधान नहीं पा सके; क्योंकि उन्होंने केवल किसी जाति–विशेष का ही स्वार्थ देखा। समाजवादी नीति–शास्त्र में सदैव कल्पना का अभाव दीखता है। वे मानव मनोविज्ञान और उसकी सम्पत्ति की पूर्णतः अवहेलना ही नहीं करते, बल्कि केवल वर्तमान व्यवस्था को बदलने और उसे स्वीकार करने की बात करते हैं। वे सदैव राजनैतिक अथवा गुटबंदी के स्तर पर चलते हैं, जो गलतियों को ठीक करने के लिए कभी-कभी तो ठीक होता है, पर उसका अन्त स्वतंत्रता पर बन्धन अथवा तानाशाही के रूप में होता है। भौतिकवाद से जुड़े हुए अनेकों नीति-शास्त्रों का यही अन्त हुआ है। संसार में इस प्रकार के प्रयोग प्रत्येक युग में किये गये, किन्तु वे सब प्रयत्न असफल रहे। यह उसी प्रकार है कि कोई रसायनज्ञ बरतन के रूपाकार को बदल कर रासायनिक गति को नियंत्रण करने की आशा करे!

मनुष्य में सब दोषों की जड़े हैं। इसे नष्ट करके के लिए हमें उसकी परम्परागत पाशविक वृत्तियों और अन्धविश्वासों को खत्म करके उनके स्थान पर मानवीय सन्मान की भावना की प्रतिष्ठा करनी होगी। यह सरल कार्य नहीं, क्योंकि साधारण मनुष्य जानता है कि यह उसकी गतिविधि पर नियंत्रण के द्वारा ही हो सकता है, जिससे वह प्रायः अपना आनन्द प्राप्त करता है।

जब हम मनुष्य की अपने से संघर्ष करने की बात करते हैं, तो उसका मतलब केवल शारीरिक ही नहीं होता, बल्कि मानसिक दूषित अस्वाभाविकता से भी होता है। वे मानसिक ग्रन्थियाँ हैं, जो उसकी प्रगति में बाधक होती हैं। ऐसे बहुत-से लोग हो सकते हैं। उदाहरण के लिए—प्रसिद्धि पाने की भावना, प्रथम पंक्ति में रहने की तथा तेज प्रकाश में रहने की इच्छा हम सबों में न्यूनाधिक रूप में पायी जाती है। जब तक यह मनुष्य को अपने साथियों से आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है, तब तक ठीक है और आत्मा का प्रतिनिधित्व करती है। किन्तु जब यह सब प्रकार के रूपों को अपनाने लगती है—जैसे लालच, प्रभुत्व, यश आदि—तो विकृत हो जाती है। ये सभी उच्च बनने की आन्तरिक भावना से प्रेरित हैं, लेकिन ये हमारा ध्यान मुख्य उद्देश्य से दूर ले जाते हैं। बुद्धि के सबसे खतरनाक पहलू की ओर भी यह भावना मुड़ सकती है—सत्ता का लालच। हममें से अधिकाश लोग, अपने छोटे से वातावरण में भावी तानाशाह हैं। बहुत-से इच्छुक लोग अपनी सफलता के लिए चापलूसी का मार्ग अपनाते हैं। यह प्रवृत्ति व्यक्तित्व

के विकास में बाधक होती है, मनुष्य को अन्धा बना देती है। संसार जानता है कि इनसे कितना भयानक खतरा हो सकता है।

मानव स्वभाव की इसी कमजोरी को दृष्टिगत करते हुए धर्मों ने नरक का आविष्कार किया जिसका भय आज बहुत कम हो गया है। प्राचीन ईसाई मत सच्चा ईसाई बनाने में असफल रहा।

संकल्पवादी मान्यता का एक और सामाजिक निष्कर्ष है—स्वतंत्रता की परम आवश्यकता। प्रारम्भिक जीव-कोष के अस्तित्व में आने के समय से अब तक विकास की कसौटी स्वतंत्रता रही है। व्यक्तित्व का विकास स्वतंत्रता की ओर ही प्रवाहित होता है—अधिकाधिक स्वतंत्रता की ओर। यह साध्य और साधन दोनों ही है। यह साध्य इसलिए है कि मनुष्य एक दिन अवश्य ही अपने को शारीरिक प्रवृत्तियों के प्रभाव से मुक्त कर लेगा। साधन इसलिए कि जब तक मनुष्य अच्छे-बुरे के बीच निर्णय करने में स्वतंत्र नहीं होता, तब तक वह विकास के साथ सहयोग नहीं कर सकता, वह अपने अन्तरतम को सुधार नहीं सकता। इस सम्बन्ध में हम 'ईश्वर और मशीन' पुस्तक के लेखक से पूर्णतः सहमत हैं, जिसमें उसने समस्त समस्याओं का विवेचन किया है, जो आज मनुष्य के सामने हैं।

व्यावहारिक एवं नैतिक निष्कर्ष

धर्म को पुनर्जीवित करने की बड़ी आवश्यकता है। इसके लिए उसके उद्गम के मूलभूत सिद्धांतों को अपनाना और उन अन्ध-विश्वासों को खत्म करना होगा, जो इनमें आ घुसे हैं। तीसरी शताब्दी में ईसाई धर्म में जिन तत्त्वों का आगमन हुआ और जैसी उनकी व्याख्या की गयी थी तथा वैज्ञानिक तथ्यों की अवहेलना की गयी थी, उन सबको अनीश्वरवादियों और भौतिकवादियों ने धर्म पर आक्रमण करने का आधार बनाया। लेकिन जैसा कि हम कह चुके हैं, कुछ प्राचीन रीतियों को अपनाये रहने में चर्चों को दोष नहीं दिया जा सकता। स्थानीय पूजा आदि के भाव, कथायें आदि, ऐसी बातें हैं, जो भय तथा आपत्ति के समय ईश्वर के प्रति आस्था एवं मूलभूत धार्मिक प्रवृत्ति की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं।

बिना किसी चिन्ता, दुख अथवा भय के मनुष्य की मनुष्यता जाग्रत नहीं होती और न उसमें कोई आध्यात्मिक प्रेरणा ही उत्पन्न होती है। इसीलिए कुछ अन्धविश्वासों का महत्त्व है। अतः वे अपने प्रारम्भिक रूप में ही स्वीकार किये जा सकते हैं। लेकिन जब उनमें से स्नेह तथा आत्मविश्वास के स्थान

पर असहनशीलता और अविवेक घर करने लगता है तो वे खतरनाक बन जाते हैं। इन दो दोषों को सहन करते हुए, कोई भी धर्म सफलता का दावा नहीं कर सकता। अभिमान, घृणा, धूर्तता, निर्दयता आदि ऐसे दोष हैं, जिनसे छुटकारा पाना आवश्यक है।

अन्य दूसरे धर्मों की भाँति ही ईसाई मत को भी इससे धक्का पहुँचा है। स्पेन में पवित्र कैथोलिक नरमेध का भयंकर हाहाकार मचा था। यूरोप के अन्य देशों में तथा अमरीका में जादूमन्त्र के लिए मुकदमें होते थे। मूर्खता एवं अज्ञानता के कारण ये सब उसी एक ईश्वर के नाम पर, उसी एक पुस्तक के नाम पर, होता था। आज उस पुस्तक की व्याख्या अन्य प्रकार से की गयी है, फिर भी असहनशीलता और धर्मान्धता का अन्त नहीं हो पाया है। तनिक से मतभेद के कारण हजारों निर्दोषों की जानें चली जाती हैं, तो क्या धर्म की तनिक और स्पष्ट एवं वैज्ञानिक रूप में व्याख्या करना उचित नहीं होगा? मानव-ज्ञान के विकास का पूर्णतः सम्मान करते हुए समस्या का समाधान धर्म को साथ लेकर क्यों न किया जाये? इसी प्रकार हम भौतिकवादियों के आक्रमण का उत्तर दे सकते हैं, जो अपने को पूर्णरूपेण बौद्धिक चिन्तक मानते हैं।

यह कहा जा सकता है कि ईमानदार ईसाई को धर्म पुस्तक के अतिरिक्त और किसी चीज की आवश्यकता नहीं। लेकिन हम ईमानदार ईसाई को समझाने का प्रयास नहीं कर रहे हैं। हमें दूसरों को अपने साथ लेना है। अपने अनुभव से हम जानते हैं कि अधिकाश लोगों मे उनके अपने भावों और विज्ञान के बीच मतभेद पाया जाता है। उन्हें इस भार से हल्का करना चाहिए। शास्त्रों की प्राचीन भाषा आज काम नहीं देती; उन्हीं बातों को व्यक्त करने के लिए यथा सभव वैज्ञानिक शब्दावली का प्रयोग वाछनीय है। इसी भाषा के द्वारा अनीश्वरवाद से लड़ा जा सकता है। इसकी प्रतिष्ठा ठोस तथ्यों पर आधारित है, जिसका महत्त्व सिद्ध हो चुका है और जो बौद्धिक विकास के अनुरूप है, साथ ही हमारे युग के अनुकूल भी। विज्ञान हमें नक्षत्रो का और परमाणु-जगत के नियमो का परिचय देता है। वह हमारी चिन्ताओं को कम करके मानव की रक्षा करता है। वह प्राकृतिक जटिलता को स्पष्ट करके चक्करदार विकास-पथ को स्पष्ट कर देता है। वह हमारी भावुकता से मुक्त है तथा हमें ईश्वरीय सत्ता की आवश्यकता का बोध कराता है।

प्रकृति हमें स्वरूपान्तर की व्यवस्था का ज्ञान कराती है। चर्च ने कापरनिकन व्यवस्था—भू-गोलत्व—उसकी प्राचीनता और विकास को शनैः-शनैः स्वीकार किया। यह स्वीकार किया जा सकता है कि १९वीं शताब्दी में वैज्ञानिक

तथ्यों के अभाव के कारण बाइबिल को व्यापक रूप देना सम्भव न था। इस मन्द विकास के लिए, बुद्धि द्वारा विश्व को समझने के लिए दकियानूसी वर्ग को दोषी नहीं ठहराया जा सकता था। जिनकी धर्म में आस्था है, जिनके मानस में संघर्ष नहीं है, निश्चय ही वे भाग्यवान हैं। पंडित-समाज में भी इसका अस्तित्व पाया जाता है। क्या ये विशुद्ध मनवाले लोग बहुसंख्या को प्राप्त हो चुके हैं? ऐसा हम नहीं समझते। यदि ऐसा होता, तो आज संसार में छोटे-बड़े, दुख, अपराध आदि हमें क्यों घेरे रहते? आश्चर्य तो यह है कि कुछ लोग इन्हें इसलिए स्वीकार नहीं करते कि वे असफल कहे जायेंगे। जब हम इस प्रश्न पर विचार करते हैं, तो अपने को एक बहुत बड़ी उलझन में पाते हैं।

यदि विश्वासों की अपेक्षा केवल बुद्धिगम्य आस्था ही आत्मविश्वास को प्रेरित करने में समर्थ होती, तो उसके परिणाम की दृष्टि से, व्यक्ति एवं जन-साधारण के सुधार में भी उसका मूल्य सामान्य होता। यदि एक ईसाई अपने जीवन में ईसाईयत के आदर्शों को व्यवहारगत नहीं कर सकता, तो उसकी आस्था—चर्च में नि य जाना दिखावा मात्र है और उसका कोई महत्त्व नहीं।

इसके विपरीत यदि आस्था का क्षेत्र सीमित स्वीकार कर लेते हैं, तो चर्चों की संख्या, शक्ति और सन्मान को देखते हुए यह साबित होता है, कि शास्त्रों की और उपदेशों की शक्ति लुप्त हो चुकी है, वे हृदय तक नहीं पहुँच पाते। फलस्वरूप हमें नये पथ को खोजना पड़ेगा जो मानव की बुद्धि, हृदय एवं चेतना को स्पर्श कर सके।

कौन-सी बात ठीक है, हम नहीं जानते। किसी भी स्थिति में शताब्दियों के काल में मनुष्य द्वारा संचित भावों के आदर्शों को बुद्धि और उपयोगितावाद के आधार पर स्थापित करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। महत्वपूर्ण प्रश्न उन सब कागजी सीमाओं को खत्म करने का है जो मनुष्य-मनुष्य के बीच खड़ी हैं और जबकि पहिले से कहीं अधिक आवश्यकता—मनुष्य के भावी निर्माण की—सामने है। लेखक का विश्वास है कि बहुत से चर्च इस बात से सहमत हैं, पर दूसरों को भी पक्ष में लेने की आवश्यकता है।

प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि मानवता के सुधार की बड़ी आवयक्ता है, फिर भी शास्त्रों को गलत समझनेवाले कुछ धर्म केवल पूजापाठ पर ही अड़े हैं और इस प्रकार समाज-सेवा और भाग्य में विश्वास जम जाता है। दोनों का नतीजा एक ही है, क्योंकि दोनों एक व्यक्ति के आन्तरिक तथा सकारण प्रयास को मध्यम कोटि का बना देते हैं।

धार्मिक जनों का हम तिरस्कार करते हैं, क्योंकि धर्म और ईश्वर के प्रति उनकी आस्था, अबौद्धिक प्रयास है। यदि यह प्रवृत्ति अधिकाधिक मानवीय होती तो ठीक भी थी, पर यह तो मध्यकालीन असहनशीलता का रूप है। भौतिकवादी तत्त्वों का आधार वाह्य है। वे समस्या का सामाजिक समाधान पाने के लिए व्यक्ति की स्वतंत्रता को खत्म कर डालते हैं। और फिर तानाशाही का निर्माण होता है, जिसका आधार कीट-पतंगों का 'समाज' है।

यह कहा जा चुका है कि मृत्यु अथवा दुख के समय मनुष्य की आस्था ईश्वर में बहुत हो जाती है। सम्भवतः इसका कारण यही है कि ऐसे क्षणों में मनुष्य की बुद्धि क्षीण हो जाती है और वह परम्परागत विश्वासों के सामने घुटने टेक देता है। यह बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती। इसके विपरीत सम्भावना तो यह है, कि ऐसे क्षणों में उसके मन में उस प्रतिभा का उदय होता है, जो साधारण जीवन में नहीं पायी जाती। यदि हम यह भी मान लें कि खतरे की अवस्था में बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और यह कि शान्त वातावरण में ही मनुष्य की बुद्धि एवं तर्क कार्य करते हैं, तो भी हमें उन अडिग आस्थावाले महापुरुषों को स्वीकार करना ही पड़ेगा, जिन्होंने हमारे विज्ञान और दर्शन के महल खड़े किये। वह वैज्ञानिक, जिसका इतिहास में कहीं नामो-निशान नहीं है, अपने अहंवश घोषित करता है कि न्यूटन, फैराडे, माक्सवेल, ऐम्पीयर अथवा पाश्चर बुद्धि में उससे निम्न थे। यह आत्मविरोध की चरम सीमा है।

यह कहा जा सकता है कि विज्ञान आगे बढ़ चुका है और उन महानुभावों में वे तत्त्व नहीं थे, जो आज हमारे पास हैं। इसके उत्तर में हमें इतना स्मरण रखना चाहिए कि अधिकांश वैज्ञानिक उन पर आस्था रखते हैं और इस पुस्तक के प्रथम भाग में यह स्पष्ट किया गया है कि विज्ञान के विगत चालीस वर्षों का विकास भौतिकवादी विचार का मंडन करने की अपेक्षा खंडन ही करता है। विगत बीस वर्षों में महान ज्योतिषविज्ञ एवं गणितज्ञ ऐडिंग्टन और संसार के इतर महान जीवशास्त्रियों ने इस विचार की पुष्टि की है।

दोनों पक्षों—धार्मिक कठमुल्ला और अनीश्वरवादियों में हमें एक ही मानवीय कमजोरी दीख पड़ती है। वह है मनुष्य के मानसपक्ष की अवहेलना। प्रथम बुद्धि को अस्वीकार करता है, दूसरा भावनाओं को। उनके मस्तिष्क में इतना नहीं आता, कि मानव का व्यक्तित्व दोनों के संयोग एवं सन्तुलन से उभरता है।

प्रकृति में हम सब जगह प्रयास देखते हैं, तो फिर उसकी रचनात्मक एवं रक्षक प्रवृत्तियों को रोकने की आवश्यकता मनुष्य को क्यों पड़ी? अमूर्त कल्पना

का निर्माण क्यों हुआ, यदि उसकी आवश्यकता ही न थी! कोई भी तथ्य, यदि वह वास्तव में वैज्ञानिक है, तो ईश्वर को नहीं काट सकता। अन्यथा वह सत्य हो ही नहीं सकता। जो व्यक्ति विज्ञान से डरता है, उसकी अडिग आस्था हो ही नहीं सकती (यह उत्तर धार्मिक कठमुल्लाओं को है)। परम्परागत प्रवृत्तियों और बौद्धिक प्रवृत्तियों के बीच संघर्ष ही वास्तव में मानवीय संघर्ष है; और इसके लिए मानस की शक्तियों के पूर्ण सहयोग की आवश्यकता है। बिना सीमा निर्धारित किये यह बौद्धिक प्रकाश की व्याख्या करता है।

यह ठीक है कि पूर्णता के लिए संघर्ष की प्रवृत्ति होती है। यद्यपि पूरी तो नहीं, फिर भी यह प्रवृत्ति मनुष्य में सतत मिलती है, जो मानवीय विकास का महत्वपूर्ण पहलू है। केवल एक ही मार्ग सत्य की ओर जाता है, दूसरे नहीं—इसका निर्णय करने का हमें कोई अधिकार नहीं।

  

मानव का उद्देश्य सर्वांग मानवीय पूर्णता को प्राप्त करना है। दूसरे शब्दों में मनुष्य के समस्त साधन, सुविधायें जैसे स्कूल, विश्वविद्यालय, पुस्तकालय, प्रयोगशालायें, धर्म, कार्य, उसके अपने व्यक्तित्व को उभारने तथा विकास करने के हेतु होने चाहिए। यदि वह शिक्षा, बौद्धिक गतिविधि, शक्ति एवं सन्मान को अपने भौतिक सुखों की दृष्टि से देखता है, तो सबसे बड़ी गलती करता है। उसे अपने विज्ञान और संस्कृति का उपयोग अपने व दूसरों की नैतिक प्रगति करने में करना चाहिए। शिक्षा यदि साध्य है तो निरर्थक है; व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए उसका उपयोग खतरनाक है। ज्ञान मनुष्य को तब तक महानता प्रदान नहीं करता, जब तक वह अपने में उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्तित्व पैदा नहीं करता। उसे अपने अन्दर असुन्दर को समाप्त करके सुन्दर को प्राप्त करना चाहिए। आज का सुन्दर भ्रम हो सकता है, पर वह कल का सत्य अवश्य है।

दूसरों को सुधारने के पूर्व मनुष्य को पहले अपने को सुधारना चाहिए। अपने समस्त साधनों की सहायता से वह मनुष्य की महानता में आस्था दृढ़ करे। साधन महत्त्वहीन हैं। हमने पहले ही कहा था कि कोई भी मार्ग क्यों न अपनाया जाये, वह पर्वत की चोटी पर ही जायेगा, यदि चढ़ाई जारी रखी जाये। किसी को भी न तो श्रेष्ठ मार्ग अपनाने का अभिमान होना चाहिए और न दूसरों को अपने पीछे चलने के लिए विवश करना चाहिए। प्रत्येक अपनी समझ के अनुसार श्रेष्ठ मार्ग अपनाता है। हम सहयोग एवं सहायता कर

सकते हैं। जो बात एक के पक्ष में सफल सिद्ध हो सकती है, वही दूसरे के पक्ष में असफलता ला सकती है। प्र येक मनुष्य को अपना संघर्ष स्वयं करना चाहिए। इसके बिना प्रगति सम्भव नहीं। सत्य को पाने का दूसरा सरल मार्ग नहीं है।

ईमानदारी के प्रयास का मीठा फल होता है। जब तक विकास के फल-स्वरूप नैतिक श्रेष्ठता, जो अब तक सीमित व्यक्तियों में छिपी है, सम्पूर्ण रूप से खिल नहीं उठती, तब तक अपने स्वयं को सुधारने में और विकास करने में लगा रहना चाहिए। इस प्रकार मनुष्य अपना आत्म-विकास कर सकता है। अपनी खोज में ही वह अपने इतर भाइयों को पा लेता है। प्रगति के लिए वह अपने स्वयं से संघर्ष करे, स्वयं को जाने, और इस प्रकार वे सीमाएँ स्वयं ही टूट जायेंगी, जिन्होंने उसे दूसरों से अलग कर रखा है। मानव प्रतिष्ठा के प्रति सन्मान के सिवा मानवता की एकता का कोई दूसरा मार्ग नहीं।

अध्याय—१७

(क) बौद्धिक अथवा नैतिक विकास ?
(ख) मनुष्य का उत्थान

हमारी यात्रा अब चतुर्थ-आकारात्मकता-काल (Fourth Dimension के समीप है। कुछ सुधारों के साथ संकल्पवादी मान्यता को स्वीकार करने से हम निरीक्षणगत तथ्यो का समावेश कर पाये थे। और इस प्रकार अधिकांश पहलुओ को, मुख्यतः मानवीय गतिविधि—नैतिक आदर्शों—को विकास की महत्त्वपूर्ण परिधि में शामिल कर लिया था। सामान्यतः उसके तार्किक निर्णय शास्त्रानुकूल ही हैं।

लेखक का यह विश्वास कभी नहीं था, कि जिस निर्देशक भाव की स्थापना की जा चुकी है, उससे समस्त समस्याओं का समाधान हो सकेगा अथवा वही निश्चयात्मक भाव है। लेखक की राय में यह केवल सत्य की खोज की दिशा में एक प्रयास है, वह सत्य जो कभी भी प्राप्त नहीं किया जा सकेगा। उसका दृढ़ विश्वास है कि विकास की व्यापक-मान्यता मनुष्य और उसके बौद्धिक एवं नैतिक विकास की धारणा के बिना कोई प्रगति नहीं हो सकती।

यह आवश्यक है कि कोई भी धारणा क्यों न अपनायी जाये, उसमें लावोसिर (Lavosier) के उपरान्त के समस्त वैज्ञानिक तथ्यों का समावेश हो। इस प्रकार

इसमें भौतिक शास्त्र, रसायनशास्त्र के सामान्य नियम, विश्व के नियम आदि का समावेश होकर यह वस्तुतः वास्तविकता का प्रतीक हो जाती है। कोई भी सिद्धांत, जो पदार्थ-जगत के नियमों का विचार नहीं करता और संयोग के नियम तथा वर्तमान संकल्पवादी विचारधारा को स्थान नहीं दे पाता, स्वतः ही समाप्त हो जाता है।

किसी भावुकतावश हमने इस अन्तवाद (Finalism) के मत को स्वीकार नहीं किया है। हमने इसे उसी विचारशैली के आधार पर प्राप्त किया है, जिसके द्वारा कभी-कभी महत्त्वपूर्ण घटना की खोज हो जाती है। अनेक वर्षों तक यह मत आलोचना का विषय बना रहा। इसके बावजूद भी उसका विकास हुआ। पूर्व-स्वीकृत मान्यताओं की अपेक्षा इसकी सबसे बड़ी उपयोगिता यह है, कि यह उन सब अजीव जगत के वैज्ञानिक तथ्यों का विरोध नहीं करता, बल्कि उनको विकास में शामिल कर लेती है। यह सिद्धांत उन वैज्ञानिकों की इस अवैज्ञानिक धारणा को अवश्य ठेस पहुँचायेगा, जो यह स्वीकार नहीं करते कि कैरनाट-क्लासियस (Carnot Clausius) का नियम प्राणी जगत पर लागू नहीं होता। इसकी असत्यता को प्रमाणित करने का उत्तरदायित्व उन पर है। लेखक स्वयं एक अनुभवी जीवशास्त्री होते हुये, उनके प्रयोगों के परिणामों से चिन्तित नहीं है, लेकिन उसे भय है कि उसमें बहुत देर लग सकती है।

इस मान्यता को भौतिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्रों में भी लागू करने से कतिपय पाठकों को भी आश्चर्य या दुख हो सकता है। लेकिन यह पूर्णतः युक्तियुक्त था। अवश्य ही बिना 'अ-संयोग' (Anti-chance) को स्वीकार किये विकास की व्याख्या करने में हमने अपने को विज्ञानगत एवं नापी जा सकनेवाली घटनाओं तक ही सीमित नहीं रखा। जहाँ तक भौतिक-रासायनिक नियमों का प्रश्न है, हमारे सिद्धांत में मूलभूत विरोध नहीं है। इसका विरोध इतना ही है, कि यह स्पष्टतः अन्तवादी है, यह स्वीकार करती है कि सरलतम जीवों में भी भौतिक-रासायनिक नियम सामान्य नियमों से नियंत्रित होते हैं, जो अ-जीव जगत से भिन्न हैं और हमारे लिए अज्ञात हैं।

इसी प्रकार की सीमाएँ अ-जीव जगत में भी पायी जाती हैं। उदाहरण के लिए मूल घोल में जब दाने उत्पन्न होते हैं, तो ब्राउनियन नियम के अनुसार उनकी समरसता नहीं पायी जाती, बल्कि गिब्स के नियम के अनुसार वे दाने दूसरों से अलग हो कर ऊपर आ जाते हैं। दोनों स्थितियों में 'विशेष नियम' जो विशेष अणुओं के सम्बन्ध में लागू होते हैं, दूसरे नियम के द्वारा सीमित

हो जाते हैं। कुछ घोलों—जीवनतत्त्व (Protoplasm)—को जीवन ने नवीन विशेषता प्रदान कर दी है, जिसके कारण वे नये नियमों के अधीन हो जाते हैं।

हमारी मान्यता कुछ धारणाओं पर आधारित है। इक्यूलिड-भूमिति और आइन्सटीन के सिद्धांतों का आधार दर्जनों धारणाएँ हैं। यही बात आधुनिक सिद्धांतों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। यह धारणा वास्तव में मनुष्य को जीवन का उद्देश्य देती है और जीवन के निश्चित महत्त्व को बताती है। वैज्ञानिक दृष्टि से यह उपयोगी है एवं कितनी ही समस्याओं का समाधान करती है। अन्त में यह मानव की आन्तरिक गतिविधि को विकास से सम्बन्धित करती है और इस प्रकार उस आध्यात्मिक आधार की पुष्टि करती है, जिसकी आवश्यकता सबको महसूस होती है।

अधिक दूर जाने के पूर्व यह प्रश्न उठता है कि क्या मस्तिष्क की गतिविधि नैतिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रवाहित होगी अथवा पूर्णतः बौद्धिक क्षेत्र में। यह बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, जिस पर हमें विचार करना चाहिए।

प्रतिभा मनुष्य को सतत विद्यार्थी बनाये रखती है (—पेसकाल)। इस प्रकार अपने विश्व की तुलना में मनुष्य सदैव तुच्छ है। मान भी लिया जाये कि एक दिन वह सब कुछ जान जायगा, तो फिर उसके विज्ञान का क्या होगा? और उसकी इस सफलता के परिणाम क्या होंगे? जब उसके लिए और कुछ जानना शेष नहीं रह जाता, तो उसकी बौद्धिक गति भी बंद हो जायगी, उसकी भौतिक जगत में रुचि नहीं रहेगी, जो कि वास्तव में विज्ञान का आधार है। जिन लोगों का प्रमुख आधार बुद्धि है, उनके लिए तो जीवन निरर्थक हो जायेगा। अहं तथा पाशविक प्रवृत्तियाँ प्रवाहित हो चलेंगी। हृदय-पक्ष संकुचित होगा और तर्क पक्ष प्रबल हो उठेगा; सत्ता का मद होगा। संकल्पवादी दृष्टिकोण से तो यह मानव शैतान होगा। मानवीय दृष्टिकोण से यह अमानव होगा। इससे इतना स्पष्ट है, कि नैतिक मूल्यों का स्थान सदैव है और इनका मूल्य वे भी मानते हैं जो कि तुच्छ हैं। शहीद वास्तव में मानवता की महत्त्वपूर्ण धुरी है, जो रक्तपिपासु नर-समूहों को न्याय तथा स्वतंत्रता-प्रिय आदर्शवादियों में बदल देते हैं। इसीलिए तो सरकार क्रान्ति के समय में शहीदों को नहीं पैदा करती, अन्यथा भीड़ में वह जोश फैल जाये जिस पर नियंत्रण करना कठिन हो जाय।

कौन जानता है कि ईसा को फाँसी पर चढ़ाये बिना ईसाइयत का इतना प्रचार सम्भव होता?

नैतिक नियम अरुचि उत्पन्न करते हैं, वे उन बातों का आदेश देते हैं, जो

लोगों के लिए कठिन और कष्टमय होते हैं। भौतिक जीवन उनका विरोध करता है; उसे तो अपनी आनन्द-प्रियता से मतलब होता है। यह उनसे त्याग की माँग करता है, जो स्वयं की भावना—मानव-प्रतिष्ठा—से कहीं अधिक शक्तिशाली है। इस प्रतिष्ठा के प्रति जागरूकता मानव में आध्यात्मिक श्रेष्ठता को उन्मुख करती है। सबसे बड़ा चमत्कार यह है, कि इस नियम ने मनुष्य से व्यापक सन्मान प्राप्त किया है, जो कि इसके अस्तित्व का प्रमाण भी है।

यह प्राप्त आनन्द त्याग का बदला चुका देता है। कर्त्तव्य-भावना आत्मा को शान्ति प्रदान करती है। नैतिक व्यक्ति—प्राचीन काल में जिसे गुणी कहा जाता था—अपने चारों ओर प्रसन्नता का प्रसार करता है। यद्यपि इसकी पूर्णता कम मिलती है, पर क्या यह इस बात का प्रमाण नहीं है कि यह प्रवृत्ति शुष्क अमानवीय बौद्धिकता की अपेक्षा विकास के आदर्श की ओर प्रवाहित होती है? जिस बुद्धि ने मनुष्य को अनुकूल बनाने में सहयोग दिया, विजय प्राप्त करायी वह अपना महत्त्वपूर्ण कार्य करती रहेगी। यदि धर्म विकास के चरम आदर्श की ओर बढ़ता है, तो बुद्धि धर्म और विज्ञान में समन्वय कराने में समर्थ होगी। और यदि बुद्धि को अकेले छोड़ दिया जायेगा, तो अनुकूल बनने की दूसरी प्रवृत्तियों के समान वह भी विकास के विपरीत दिशा में चल पड़ेगी।

बौद्धिक चिन्तन ने निश्चय ही वैज्ञानिक नियमों की खोजों द्वारा तथा उद्योगों में उनके प्रयोग द्वारा मनुष्य को अपने वातावरण पर विजय पाने तथा अधिक स्वतंत्र होने में सहयोग दिया है। विनाशक युद्ध, ईश्वर-विरोध तथा जीवन के उद्देश्य और महत्त्व को खत्म करने में बुद्धि ने बुद्धि के विपरीत संघर्ष किया है, विकास के प्रति संघर्ष किया है। जब वह मानव को ऊँचा उठाने के कर्त्तव्य से भ्रष्ट होती है, तो वह प्रगति का साधन भी नहीं रहती। तब वह एक दैत्य का रूप धारण करती है; तब बुद्धि, बुद्धि नहीं रहती।

आज का प्रश्न है, बुद्धि की विजय होगी या नैतिकता की? मानवता का भाग्य एवं उसकी प्रसन्नता मनुष्य के पसंद किये हुए उत्तर पर निर्भर है। बुद्धिवाद व्यावहारिक उपयोगिता को स्थापित कर सकता है, किन्तु उस रहस्यमयी विशेषता को नहीं प्राप्त कर सकता, जो अनुभवगम्य तो है, पर उसे समझा नहीं जा सकता, और जिसके कारण ही नैतिक नियमों की शक्ति एवं सन्मान है। बुद्धि नैतिक नियमों का निर्माण करती है—यह स्वीकार करते हुए भी यह कहना पड़ता है, कि उनका अस्तित्व तभी तक नागरिक के लिए है, जब तक कि कानून उसे मनवा सकता है। जो मनुष्य जेल अथवा फाँसी के भय से

बुरा काम नहीं करता, वह उच्चतर मानव नहीं। बुद्धि केवल बुद्धि ही होती, तो मनुष्य की कर्त्तव्य, स्वतंत्रता, सन्मान आदि की भावनाएँ धीरे-धीरे लुप्त हो जाती और फिर सभ्यता का आगे बढ़ना ही बंद हो जाता।

इसके विपरीत यदि नैतिक नियम स्थिति को नियंत्रित करते हैं, तो वे स्वयं मस्तिष्क के स्वतंत्र विकास में किसी भी प्रकार बाधक नहीं होते। वे शनैः-शनैः अपना क्षेत्र बढ़ायेंगे और समस्त मनुष्यों में स्वतंत्रतापूर्वक बौद्धिक प्रवृत्तियों को विकसित करेंगे। उसमे मानव-आत्मा पूर्णरूपेण असीमरूप में खिल उठेगी। यह किस प्रकार होगा? यह दूसरा प्रश्न है। हम फिर दोहराते हैं, कि व्यक्तिगत प्रयास का बहुत बड़ा महत्त्व है। सच्चा विकास अन्तरिक होता है और नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति की सच्ची और उत्कट इच्छा पर निर्भर करता है। दूसरों से आगे बढ़ने की इच्छा, यह विश्वास कि ऐसा हो सकता है तथा दृढ़ निश्चय द्वारा मनुष्य विकास के कार्य में सहयोग दे सकता है और वही सहयोग मानव धर्म बनाता है।

मनुष्य यह भूल जाये कि उसकी मंजिल केवल पृथ्वी पर अपना अस्तित्व रखती है। वह अपने कार्य से उतना जीवित नहीं रहता, जितना कि पुच्छल तारे के समान पीछे छोडी गयी अपनी जागृति के रूप में वह जीवित रहता है। वह स्वयं भी इससे अपरिचित रहता है। वह सोच सकता है, कि उसकी मृत्यु ही इस पृथ्वी पर उसका अन्त है, किंतु हो सकता है, उसकी मृत्यु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जीवन का प्रारंभ हो।

जीवन और उसके उपरान्त उसके प्रभाव के स्थायित्व के बीच विषमता को हम नहीं मिटा सकते। हममें से प्रत्येक अपने पीछे न्यूनाधिक परम्परा छोड़ जाता है, इसी से उक्त धारणा की पुष्टि हो जाती है, जो सब पक्षों में लागू होती है। उस पिता की कल्पना कीजिये, जिसने अपने परिवार व इष्ट-मित्रों में प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है। मृत्यु के बाद भी बहुत दिनों तक उसकी स्मृति बनी रहेगी और उसके शब्द उनको प्रभावित करते रहेंगे, जिन्हें वह नहीं जानता था। यह जो उसमें अच्छाई थी, जो उसने अनजाने ही अपने इष्ट-मित्रों तथा परिवार के सदस्यों को दी थी, कभी भी नहीं मर सकती। विचारकों और युग-पुरुषों द्वारा ऐसी ही परम्परा हमें मिलती रहती है, जो हमारे नैतिक जीवन का नियंत्रण करती है। पाँच हजार वर्ष बाद उनके नाम स्मृति-पट से मिट जाते हैं। हम केवल उन्हीं प्राचीन युग-पुरुषों को स्मरण रखते हैं, जिनकी वाणी तथा व्यक्तित्व संदेश के रूप में पृथ्वी पर रह गया था। यही हाल अनैतिकता का भी है,

वह भी उसी परम्परा के लोगों में जीवित चलती रहती है।

आलंकारिक भाषा में इसे यों कहा जा सकता है कि अनन्त के काले पट पर सयुक्त प्रयास से विकास के आत्मा की ज्योति अपनी चमचमाती लकीर के रूप में रह जाती है। प्रत्येक मानव यदि चाहे तो अपने कृत्यों द्वारा न्यूनाधिक उज्ज्वल रेखा छोड़ सकता है, जो उसकी देन के अनुसार बढ़ती-फैलती रहेगी।

यह वास्तव में अमरत्व का दूसरा रूप है, जिसके बारे मे हमें सन्देह नहीं। सही शब्दों में व्यक्तिगत अमरत्व की भावना बौद्धिक सीमा के बाहर की चीज है। पर यदि हम जागृति की धारणा को स्वीकार करें, तो सदेह नहीं रह जाता।

प्रथम पुरुष जिसने अपने मुर्दों को गाड़ा था और उनके कुल की रक्षा के लिए पत्थर चुन दिये थे, जिसने अपने बच्चों को अपने ही मित्रों को न मारने का उपदेश दिया था; जिसने घायल अशक्त लोगों को मरने देने की अपेक्षा उनकी सेवा की—ये सब जागृतियाँ आज वास्तविक हैं, उससे भी अधिक वास्तविक जितनी कि वे अपने आदिम युग में थीं। हम उन मानव-रत्नों को भूल चुके हैं, किन्तु उनके सदेश सदैव हमारे साथ हैं। आधुनिक मानव प्राचीन क़ाल की उन समस्त जागृति-शाखाओं एवं प्रशाखाओं का पुंज है, जो अखंड रूप में मिश्र के पिरामिड से भी कहीं अधिक प्रभावशाली है।

मोजेज, बुद्ध, कनफ्यूसिअस, लो से, ईसा तब की अपेक्षा आज अपना प्रभाव अधिक रखते हैं। जिसने बिना किसी मूल्य के भलाई की है, वे कभी भी नष्ट नहीं होते। यदि हमारे बौद्धिक प्रयास तथा समस्त विज्ञान मानव को, उसके जीवन के उद्देश्य को तथा उसके भीतर छिपी शक्ति को समुन्नत करने मे असमर्थ हैं, तो वे व्यर्थ हैं।

आदि जीव का अमरत्व हमारी इच्छा का समाधान नहीं करता। भीमकाय रेंगने वाले प्राणियों की पथराई अस्थियाँ हमें कोई प्रेरणा नहीं देतीं। उच्चतर प्राणियों के अवशेष, वास्तविक प्रमाण होते हुए भी, केवल ईश्वर की ओर बढ़ने के सतत प्रयास की अभिव्यक्ति ही है।

कौन जानता है कि हमारी सभ्यता का क्या अवशेष रहेगा! हमें विश्वास है, कि आज से दस-बीस हजार वर्ष बाद, सुदूर भविष्य में हमारा कोई भौतिक अस्तित्व न रह जायेगा। हमारे सुदृढ़ भव्य महल मिस्र के शुष्क जलवायु द्वारा रक्षित मन्दिरों की भाँति स्थायी नहीं हैं। धातुओं की गैस बन जायेगी। फौलादी कांक्रीट नष्ट-भ्रष्ट हो चुकेगा। हमारी कलात्मक कृतियाँ और ग्रन्थ, यदि महायुद्धों की विभीषिका से बच भी गये, तो धूल में मिल चुके होंगे। यदि मनुष्य के

स्वभाव में आमूल परिवर्तन नहीं होता, तो कुछ विचार शेष रह सकते हैं। यह अनुमान किया जा सकता है कि नैतिक आदर्शों की अस्थायी तरलता भौतिकता पर विजय पायेगी; और बारहमासी निर्मल सरिता के समान उसका प्रवाह समय के खंडहरों से टकराता, कल-कल करता धुँधले भूतकाल का स्मरण करायेगा।

नैतिक विकास के बिना, मनुष्य प्रकृति पर विजय पाकर जिस आनन्द को प्राप्त करना चाहता है, वह नहीं कर सकता। यह विकास केवल हमारे समाज में विज्ञान और आस्था, अस्थायी एवं स्थायी, पदार्थ तथा आत्मा, अपनी सहज प्रवृत्तियों के दास पशु और मुक्त मानव के समन्वय में ही सम्भव हो सकता है। इसी सत्य का हमने विवेचन किया है और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भावी विकास हमारे हाथ है और यह विकास आत्मा के भावी विकास से सम्बन्धित है।

जैसा कि हम स्पष्ट कर चुके हैं, ये निष्कर्ष कतिपय व्यक्तियों को छोड़ कर बहुमत का समाधान नहीं कर पायेंगे। काफी समय तक, एक साधारण मनुष्य अपने दैनिक जीवन के कामों को एक उत्तरदायित्वपूर्ण विकास-सहयोगी के कर्त्तव्य की भाँति नहीं बना सकेगा। वर्तमान स्थिति में वह अपने कर्त्तव्य तथा व्यवहार को नहीं समझ सकता। वह अपनी मानसिक समस्याओं का समाधान ईश्वर के सहयोगी अथवा विकास के अवशेष के रूप में कर पाता है। उसे वास्तव में आशा, सम्मति, उत्साह और धैर्य की आवश्यकता है। ईसाइयत के प्रतिनिधि बुद्धिमान, मानवता से ओत-प्रोत, मानवजाति की आध्यात्मिक परम्परा के उन उत्तराधिकारियों से ही उसे ये सब प्राप्त हो सकता है, जिन्होंने पवित्र आत्माओं द्वारा सत्य की ज्योति को जीवित रखा है; जो मरणासन्न सभ्यता के शरीर पर अपने अस्तित्व का निर्माण करते रहे।

अध्याय—१८

(क) विश्वव्यापी भावना
(ख) सिकुड़ती पृथ्वी
(ग) मुख्य बातों की पुनरावृत्ति और निष्कर्ष

फिलहाल मनुष्य से यह आशा करना व्यर्थ है कि वह अपने को समस्त मानवता का अंग समझने लगे। 'विश्वव्यापी बन्धुत्व' की भावना जाग्रत करने के अनेकों प्रयत्न किये जा चुके हैं। बात तो उचित थी, पर उसके लिए

किये गये प्रयास भावुक थे। वे प्रयास इतने बौद्धिक न थे, जो कि बहुसंख्यक समाज के अथवा अल्पमत के मनोवैज्ञानिक स्तर से मेल खाते। यह व्यापक मनोविज्ञान वातावरण और प्रत्येक क्षेत्र के विकास-स्तर पर आश्रित रहता है। यदि गुफाओं में रहनेवाले व्यक्तियों से 'राष्ट्रीय' भाषा में सोचने-समझने को कहा जाता—तो उसकी समझ में भी न आता। उनके पूर्वज तो पारिवारिक भाषा में ही सोचा करते थे। लाखों वर्षों के बाद भी यही परम्परा चलती रही, और फिर ग्रामों के परिवार के रूप में फली-फूली। उसकी गति का क्रिया-क्षेत्र कुछ एक वर्ग मील में ही रहा।

धीरे-धीरे मनुष्य-जाति पृथ्वी पर छा गयी। अपने मार्गों के अवरोधों को काटते-छाँटते सामान्य जाति के लोग दूर तक फैलते गये; उनमें भेद हुए और वे दूसरों में जा कर घुल-मिल गये। जो दूर तक आगे जा चुके थे, वे बिना किसी प्रतिरोध के वहीं बस गये। विभिन्न जातियों के इस अन्तर्मिलन से एक प्रकार के सह-जीवन का निर्माण हुआ, जो बाद को व्यक्तिगत विद्वेष समाप्त होने के साथ व्यापक भूमि-विस्तार एवं सामूहिक स्वार्थ के रूप में आया। नदियाँ पर्वत आदि भौगोलिक अवरोध आक्रमणकारियों से सुरक्षित रहने के लिए साधन बनने लगे। इन मानव-समूहों में एकता का भाव उनके अपने संयुक्त स्वार्थ के आधार पर बना; और नेता अथवा सरदार की भावना राष्ट्रीय भावना से भी अधिक सशक्त बनने लगी। स्थानीय युद्ध होने लगे। पैतृक भूमि का नया भाव, नयी नैतिकता का विकास हुआ। लोग राष्ट्रीय भाषा में सोचने लगे। हम आज इसी युग मे हैं, जिसे कि हजारों वर्ष हो चुके हैं।

इन शताब्दियों में ऐसा कुछ नहीं हो पाया, जिसके कारण दूसरी मानव-जाति के प्रति मनुष्य के दृष्टिकोण में कोई परिवर्तन होता। दूरी और दूसरी भौतिक कठिनाइयों में केवल घोडे ही आवागमन के साधन थे—इन सबके कारण जीवन में एक मन्थर थिरकन-सी आने लगी, जिसने कला-कौशल तथा सभ्यताओं के विकास के लिए पृष्ठभूमि तैयार कर दी।

लगभग सौ वर्ष पूर्व, पहली बार पृथ्वी का सकुचित होना शुरू हुआ। रेलों के निर्माण से दूरी छोटी होने लगी। महाद्वीप छोटे होने लगे। मनुष्य नजदीक आने लगे। उनकी अभिलाषाएँ बढ़ चलीं, मानों बन्दीगृहों के द्वार खुल गये। विभिन्न रहन-सहनवाली जातियों के सम्बन्ध में जो दन्तकथाएँ प्रचलित हो रही थीं, वे सब अब स्पष्ट होने लगीं। १५वीं शताब्दी में नाविकों द्वारा लायी गयी गाथाएँ जहाजों के आवागमन से खत्म होने लगीं। धीरे-धीरे श्वेत जातियाँ

पृथ्वी पर चढ़ दौड़ीं, उन्होंने वहाँ की सभ्यता-परम्परा को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। इसके बदले में वे सूती सामान और शस्त्र के अतिरिक्त कुछ न दे पाये। साधारणतया इसी प्रक्रिया को 'सभ्यता' कहा जाता है।

अन्त मे २०वीं शताब्दी में वायुयान और रेडियो के आविष्कार ने पृथ्वी को स्विट्ज़रलैंड की भाँति तनिक-सा कर दिया। आज हम सब एक उपवन में रह रहे हैं, जो प्रतिदिन घटता जा रहा है। समय तो उन्नति की दौड़ मे पीछे रह गया। चौतरफा आक्रमण से यह विचारा समय तो चारों खाने चित्त हो गया —वह अब किसी भी कार्य के लिए बाधक नहीं। दूरी को न्यूनतम करने से मनुष्य ने अपने क्षेत्र को समझा, अपने पड़ोसियों से वह परिचित हो गया। वे अब उसके लिए रहस्य नहीं रह गये। आज भी वह सब अपने स्तर के माप-दंडों से देखता परखता है—वह इसके लिए स्वतंत्र है। संसार के सुदूर भाग की घटनाओं—सिडनी की आग, गंगा अथवा मिसिसिपी की बाढ़ आदि—से वह परिचित रहता है। उनका महत्त्व उसके लिए एक-सा है, क्योंकि उसे उनकी खबर कुछ क्षणों अथवा घंटो मे मिल जाती है, कभी-कभी तो घटना घटती रहती है और उसे खबर मिलती रहती है, जैसे खेल आदि में। दूरी की अपेक्षा समय ने घटनाओं के दुख को कम कर दिया है। "१८४० मे भारत में भयानक अकाल पड़ा" और "भारत में भयंकर अकाल है। कल हजार से भी ऊपर व्यक्ति मर गये।" उक्त दोनो वाक्यों में बड़ा अन्तर है। जो सैकड़ों वर्ष पूर्व मरे, वे तो आज भी मरे हैं। लेकिन जो कल मरे हैं, उन्हें बचाया जा सकता था, यदि.........आत्मा ऐसे भावों तथा एक प्रकार की जिम्मेदारी से ओत-प्रोत हो उठती है—"जिस समय मै खा रहा हूँ, उसी समय वे भूख से लड़खड़ा कर अपना दम तोड़ रहे हैं।" कल के भावी चित्र कल्पना द्वारा सजीव हो उठते हैं। "यदि मै अपने भोजन में से उन्हें दे पाता, तो अनेकों बच्चों की जान बच जाती।" इस विचार मे दूरी को पीछे छोड़, पर्वतों-महासागरों को लाँघती हुई एक नयी एकता, नैतिकता फूटी पड़ती है। इस प्रकार हम देखते हैं, कि समय को न्यून करनेवाले अद्भुत अविष्कारों के बिना पृथ्वी पर मनुष्य-मनुष्य के बीच वह सम्बन्ध पैदा नहीं हो सकता था, जो कि आज धीरे-धीरे बन रहा है।

मानव-प्रतिभा के श्रेष्ठतम फल रेडियो ने धर्म के कार्य—परस्पर सहानुभूतिमय दृष्टिकोण को—आगे बढ़ाने में बड़ी मुस्तैदी से कार्य किया है।

अन्त में मनुष्य 'विश्वबन्धुत्व' के रूप में सोचना प्रारंभ कर देगा। मानव

की यांत्रिक प्रतिभा उसकी नैतिकता की रक्षा करने के हेतु आगे आयी है। उसने देश-काल की उन सीमाओं पर विजय पायी है, जो अब तक उसके भाइयों से उसे अलग किये हुए थी। उसका क्षितिज खिसक कर समीप आ गया। उसकी दृष्टि का विस्तार हुआ और उसका हृदय अपेक्षाकृत अधिक कोमल हो गया है। अपनी अद्भुत प्रतिभा के बल पर वह एक दिन अवश्य ही आध्यात्मिक विकास को प्राप्त करेगा। इसका अर्थ भी उसकी समझ मे भली भाँति तब आयेगा, जब वह समझेगा कि वह स्वयं कर्ता एवं फल-भोक्ता दोनों ही है। अब उसके बाद उसके आन्तरिक प्रयासों को सफलीभूत करने के लिए बाह्य साधन भी हैं, जिनके द्वारा समस्त मानव जाति का एक अभिन्न अंश बनता है।

यान्त्रिक उन्नति का दुर्भाग्यवश दूसरा पहलू भी है—बड़े और खतरनाक युद्ध। अब यह आवश्यक नहीं, कि दुश्मन पड़ोस में हो, वह दुनिया के किसी भी कोने मे हो सकता है, क्योंकि उसे वायुयान से दुनिया का आधा चक्कर लगाने में उतना ही समय लगता है जितना रेल-द्वारा न्यूयार्क से केलिफोर्निया की यात्रा में। युद्धों मे मनुष्य अपने पूर्व स्तर पर आ जाता है; अधिकाश लोगों को भोजन तक नहीं मिल पाता; क्योंकि अधिकतर समय वह शस्त्रों की दौड़ मे लगा रहता है। यह तब तक होता रहेगा, जब तक मनुष्य विश्व बन्धुत्व की व्यापक भाषा में न सोचेगा, जब तक सबों में समान आदर्श न होंगे और जब तक सरकारें उसी आदर्श से प्रेरित होकर शासन-व्यवस्था को मनुष्य की स्वतंत्रता की सुरक्षा मे न जुटा देगी। बिना किसी निराशा के इतना कहा जा सकता है, कि अभी हम इस अवस्था तक नहीं पहुँच पाये हैं। कुछ हजार वर्षों में महान परिवर्तन होने ही चाहिये... ....।

मानव की मंजिल और भविष्य के प्रति हमारा विश्वास महान है, लेकिन भय है कि निकटवर्ती शताब्दी मे दुनिया मे सुख, शान्ति एव संतोष की भावना पैदा न होगी, जिसकी ओर विकास उन्मुख है। ये सब स्वप्न और आशाएँ एक दिन अवश्य मूर्त होंगी। वास्तव में यह मनुष्य की चेतना और शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित गुणों के मनन एवं मानव सम्मान की भावना पर निर्भर है।

वास्तविक समस्या—आन्तरिक समस्या—पर ध्यान केंद्रित होने के अभाव में मनुष्य की शक्ति व्यर्थ के प्रयास में बिखर जायेगी और जिसके फलस्वरूप जो सामूहिक कृत्रिम सत्ता अस्तित्व में आयेगी, उससे मनुष्य का गला ही घुट जायेगा। सामूहिक सत्ता की सुरक्षा पर आश्रित नये मानदंड, व्यक्तिगत नैतिकता

को भयभीत कर देंगे, अथवा उसे गौण स्थान दे कर उसका विकास ही रोक देंगे। पूर्णरूपेण कृत्रिम बाह्य एकता लाद दी जायेगी। यह उस स्थिति का निर्माण कदापि नहीं कर सकती, जिसमें कि मानव के अन्तरतम का श्रेष्ठ रूप उभर आता है और जिसका तेज उसके चारों ओर विस्फारित होता है। बिखरे तत्त्वों को एकता प्रदान करने के लिए उन्हें एक संदूक में बन्द कर देना ही आवश्यक नहीं, बल्कि प्रत्येक अंग का एक-दूसरे से अभिन्न सम्बन्ध स्थापित करना होगा। भौतिक स्वार्थों के आधार पर लादी गयी ऊपरी एकता वास्तविक मानवीय एकता के विरुद्ध है और उसके विकास में बाधक है।

अभी संसार जिस तनावपूर्ण स्थिति में से होकर गुजरा है, उससे बरबादी का ऐसा वातावरण पैदा होगा, जिसमें व्यक्ति के लिए खतरा पैदा हो जायेगा। विशेषकर यूरोप में मनोभावनाएँ आक्रमण के प्रति सुरक्षा, भुखमरी से सुरक्षा तथा शीत से सुरक्षा पाने तक ही सीमित रहेंगी। मनुष्य दुखों से बिलकुल ही थक जायेगा। उसमें अपने पूर्वजों का-सा भय पैदा हो गया है। सामूहिक झुंड के रूप में एक होने की उन्हें आवश्यकता है। खानाबदोशों की-सी प्रवृत्ति पैदा हो सकती है, जिसके प्रारम्भिक लक्षण देखे जा सकते हैं। वे पेशेवर संगठनों के द्वारा मूर्त होंगे, जो सामान्यतः निजी स्वार्थ की रक्षा व्यक्ति को खत्म करके तथा उसकी आजादी को कुचल करके करते हैं। मनुष्यताहीन बनाने वाले उपकरणों के प्रति मनुष्य की दासता तथा अपने को जीवनरहित सामाजिक अथवा राजनैतिक सत्ता के सुपुर्द करना जिनसे वह भौतिक राहत पाने की व्यर्थ आशा करेगा—निरसन्देह अनास्तिक नेताओं को अवसर प्रदान करेगा कि वे उनका शोषण कर सकें। आध्यात्मिक शक्ति के प्रति ऐसे लोगों की उदासीनता, जिन्होंने केवल शासित रहना पसंद किया था और जिन्हें उस उदासीनता ने निराश किया है, चेतना को मंद कर सकती है। मानवता के विकास का संभवतः वह मलीन युग होगा; समस्त मानव प्रवृत्तियों के प्रति अविश्वास एवं सच्ची सभ्यता के प्रति विमुखता का युग होगा।

यदि हम समय के लक्षणों को ठीक से पढ़ें अथवा किसी लक्षण के सम्बन्ध में हम अतिशयोक्ति कर बैठे, तो भी मानव जाति की मुक्ति धर्म में ही मिलेगी। निस्सन्देह यह अपने प्राचीन आदर्शों से युक्त एवं विज्ञान की प्रगति से सजग व्यापक ईसाई धर्म होना चाहिए। अपने जीवनकाल के दो हजार वर्षों में चर्च को मानव-जाति का मार्गदर्शन करने का इतना बड़ा अवसर कभी नहीं आया था।

भविष्य के बारे में यह प्रश्न मानव के भावी विकास के प्रति हमारी आस्था को समाप्त नहीं करता। प्राणियों के इतिहास का अध्ययन बताता है, कि अमुक प्रक्रिया किन्हीं सामान्य नियमों से सचालित होती है, जिन्हें उन शृंखलाओं द्वारा पाया जा सकता है, जो किसी विशेष नियम-समूह में अपना स्थान नहीं रखतीं। उच्चतर निरीक्षण स्तर पर हम अनेकों घटना-शृंखलाओं को पाते हैं जो घटनाओं की अ-निरंतरता द्वारा लक्षित होती पायी जाती हैं, लेकिन जिनसे नियमित प्रगति मालूम होती है, मानों वे पूर्ण का अंश हों। ठीक उसी प्रकार जब हम पहाड़ी—गुफा में से गुजरते हैं, तो कभी-कभी झरोखों में से बाह्य-प्राकृतिक दृश्य देख लेते हैं; वे निरन्तर नहीं होते, प्रत्येक बार दृश्यों की पृष्ठभूमि बदल जाती है और वे एक दूसरे से, असंबद्ध लगते हैं। फिर भी हम जानते हैं कि वे सब एक ही घाटी के हैं, केवल गुफा की दीवार हमारे बीच बाधक है।

अनेकों वैज्ञानिकों के कार्य इस सम्बन्ध में हैं, जिसकी सहायता से हम विकास के इतिहास को रूपरेखा जान सकते हैं—लुप्त प्राणि शास्त्र द्वारा। लुप्त प्राणि-शास्त्र द्वारा छोड़े हुए अवशेषों के झरोखे से अनेकों वैज्ञानिकों ने मानवी-विकास के इतिहास की जो खोज की है, उसकी रूपरेखा को हम उनके संशोधन की सहायता से जान सकते हैं। वे काल की पृष्ठभूमि पर झरोखे मात्र हैं। हम देख चुके हैं कि लाखों शताब्दियों में जीवों का धीरे-धीरे विकास होता है; हम यह भी जानते हैं कि यह उन्नति वातावरण एवं जीवन-नियमों पर निर्भर है। बाह्य स्थिति के अनुसार विकास के रूपाकार में सूक्ष्मतम सुधार हुए और वातावरण के प्रत्येक परिवर्तन के अनुरूप प्रत्येक सुधार का रूप निश्चित हुआ। कालान्तर में होनेवाली भौगोलिक घटनाओं में प्रवाह के सभी लक्षण मिलते हैं। दो समूहों की गतिविधि परस्पर-विरोधी नियमों द्वारा मिलती है। जो नियम भौगोलिक घटनाओं को नियंत्रित करते हैं और जिनके फलस्वरूप मानव अस्तित्व में आया—वे आज नहीं पाये जाते।

इस प्रकार हम मानव इस महान प्रयोग की अन्तिम शाखा हैं। पशुओं से भिन्न तबसे हमने महान उन्नति की है। चेतना के उदय ने हमें अपने स्वयं के विकास का भाग्यविधाता बना दिया। हजारों रूपों में हम अपने भौतिक विश्व, अजीव जगत एवं जीव जगत से सम्बन्धित हैं। जिस प्रकार जड़ जगत के सामान्य नियमों ने प्रकृति के विशेष नियमों की उत्पत्ति की, उसी प्रकार अद्भुत

नियमों के फलस्वरूप मानव-प्रवाह का सूत्रपात हुआ। प्रत्येक गति मानो किसी महान व्यवस्था की लय पर चल रही हो, जो किसी भी क्षणिक पथ-भ्रष्टता से क्षुब्ध नहीं होती। जीवन-विकास के मापदड में समय की इकाई हजारों शताब्दियों की होगी। मनुष्य के मापदंड मे तो यह शायद हजार वर्ष की हो सकती है। मानव-प्रतिभा इन हजारों-लाखों वर्षों के भौगोलिक गति-चक्र का अनुमान नहीं कर सकती।

युद्धों अथवा यान्त्रिक-विकास द्वारा उत्पन्न परिवर्तन में अनुकूल बनने तथा सामाजिक समस्याओं को हल करने की मनुष्य मे भयंकर प्रतिक्रिया होती है जो उसे अपने मार्ग से दूर लिये जाती-सी प्रतीत होती है। किन्तु अप्रत्यक्ष रूप में मानवता जो अत्युत्तम नियमों का पालन करती है, उसने उसे हजार शताब्दियों से कम समय मे ही क्षणिक पथभ्रष्टताओं की उपेक्षा करती हुई वर्तमान अवस्था तक पहुँचा दिया है। ठीक उसी तरह जैसे कोई जलयान-चालक यदि जहाज को किनारे की तरफ चलाता रहे तो वह किनारे पर पहुँच जाता है, मनुष्यता भी अपने लक्ष्य पर पहुँचेगी, जो उसका चरम उद्देश्य है और उसके अस्तित्व का कारण भी।

* * *

दैनिक जीवन में अपने इष्टमित्रों के प्रति मनुष्य को तर्क बुद्धि का इस्तेमाल करना चाहिए। यदि वह केवल हृदय की बात सुनता है, तो गलतियाँ कर बैठेगा। अच्छे-से-अच्छा निर्णय भी दोषयुक्त हो सकता है; क्योंकि निर्णय को शुद्ध रूप देनेवाले सभी कारणों का सयोजन सम्भव नहीं। पूर्णतया बौद्धिक निर्णय मे दोष हो सकते हैं। प्रथम तो ये निर्णय इतने बौद्धिक नहीं होते, जितना कि हम विश्वास कर लेते हैं और उनमें सदैव ही भावुकता का कुछ अंश रहता है; दूसरी बात यह है कि हमारे निर्णय अपूर्ण जानकारी पर आधारित होते हैं। किसी भी विषय में भावुकता का अंश निश्चित न होने से यह अधिक अच्छा है कि अनिश्चित स्थितियों में हम ईमानदारी से उसका अंश स्वीकार कर लेते हैं। उचित होने की अपेक्षा उदार होना कहीं अधिक अच्छा है। कभी कभी समझने-परखने के प्रयास की अपेक्षा सहानुभूति दिखाना अधिक अच्छा होता है। जब तक आध्यात्मिकता का भाग्य खतरे में नहीं पड़ता, तब तक व्यक्तिगत प्रवृत्तियों को विकसित होने देना चाहिए। ये प्रवृत्तियाँ कमजोरी अथवा कायरता से प्रेरित न होनी चाहिये। हमे अरस्तू के इन शब्दों को न भूलना

चाहिए कि "असमान को समान रूप में समझने से अधिक अन्याय नहीं हो सकता"। पराधीन राष्ट्रों और दूषित मनुष्यों की प्रतिरोध-शक्ति पीड़ितों की मानवीय भावनाओं से प्राप्त होती है। वे इस बात को अच्छी तरह से जानते हैं, कि सभ्य लोग पीड़ा नहीं पहुँचा सकते, न समाजव्यापी बर्बादी कर सकते हैं और न नागरिकों को बड़ी संख्या में देश-निकाला ही दे सकते हैं।

व्यक्तियों और राष्ट्रों के लिए अब वह समय आ गया है कि वे अपने अभीष्ट को पहचानें। यदि सभ्य देश शान्ति चाहते हैं, तो समस्या को मौलिक रूप से हल करें। विगत युग की प्राचीन धारणाओं में सब ओर दरारें पड़ गयी हैं, उन्हें धागों अथवा गिने-माने उच्च वर्ग के व्यक्तियों द्वारा परस्पर सन्धियों से मजबूत नहीं बनाया जा सकता। शान्ति का निर्माण मनुष्य के आन्तरिक परिवर्तन द्वारा होना चाहिए। हम पहले ही कह चुके हैं कि युद्धों एवं दोषों के मूल हमारे अन्दर हैं। यदि शत्रु हमारे अन्तरतम में रहने के लिए स्वतन्त्र हो, तो बाहरी सुरक्षा के प्रयास निरर्थक होंगे। यदि हम दृढ़ निश्चय से उसको निर्मूल करना चाहते हैं, तो केवल समय ही हमारी मदद कर सकता है। इस मंजिल तक पहुँचने के लिए एक रास्ता है। प्रथम संसार-भर के नवयुवकों के सामने एक ही ऐतिहासिक सत्य रखा जाय। इस प्रकार एक दूसरे को समझने का आधार बनेगा। यह प्रारम्भिक कदम है, जो तुरंत उठाया जा सकता है। दूसरे, व्यक्तिगत मानवीय सन्मान की भावना पैदा करनी होगी और उसकी आन्तरिक विशेषताओं को विकसित करना होगा। यह कार्य आनेवाली शताब्दियों में होगा।

प्रत्यक्ष कार्य के द्वारा ही श्रेष्ठतर समाज का निर्माण सफलतापूर्वक हो सकता है। समस्त सामाजिक, दार्शनिक अथवा राजनैतिक धारणाओं के स्थान पर ईसाइयत की धारणा को स्थापित करना होगा, जिसका आधार स्वतंत्रता है और जिसमें मानवीय सन्मान के प्रति आस्था है। जब लोग एक ही प्रकार की शिक्षा पायेंगे, समान नैतिक नियमों का पालन करेंगे और व्यापक रूप से सोचेंगे तो परस्पर एक दूसरे से नहीं लड़ेंगे, बल्कि एक दूसरे को अधिकाधिक समझेंगे। आज राष्ट्रों के व्यक्तियों का अपना-अपना स्वतंत्र जीवन है, उनके समस्त प्रयत्न इसी बिन्दु पर केन्द्रीभूत हो चुके हैं। उनके ये प्रयत्न अपने सदस्यों के प्रति ईमानदार भी होते हैं; पर कभी वे प्रयत्न नेताओं की स्वार्थ-भावना से पूर्ण होते हैं और इन्हें ही लोग महान आदर्श मान बैठते हैं। सरकारों का कर्त्तव्य देशवासियों की शत्रु से रक्षा करना होना चाहिए और साथ ही भविष्य के लिए भी तैयार होना चाहिए, जिससे वे अज्ञान को आमूल

नष्ट करके ज्ञान का प्रसार कर सकें। ऐसा किये विना स्थिति अनिश्चित काल के लिए चलती रहेगी और सामाजिक ढाँचे के परिवर्तन के बिना उसकी आत्मा ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी। जब तक यह स्थिति रहेगी तब तक सभ्यता की, विकास की, उन्नति मन्द गति से होगी, क्योंकि कुछ देशों का प्रयास आक्रमण की ओर होगा और कुछ का अपनी सुरक्षा के लिए। नैतिक एवं आध्यात्मिक समानता से ही व्यक्तियों की एकता पनप सकती है, जो ठोस एवं स्थायी समाज की रचना का आधार बनेगी। राज्य तो मनुष्य का सेवक है, उसका कार्य व्यक्ति के स्वतंत्र-विकास की रक्षा मात्र होना चाहिए। वह उसको आत्मसात् न कर ले। किसी देश का मूल्य उसके समस्त व्यक्तियो के संयुक्त मूल्य का फल है। जो सरकार व्यक्तियों के विकास को पीछे ढकेल कर अपना स्वार्थसाधन करती है, वह दकियानूसी है और उससे मानवीय सन्मान को खतरा है।

कुछ लोग यह कह सकते हैं, कि हम अभी उस समय से बहुत पिछड़े हैं, जबकि मनुष्य स्वयं इतना सुसंस्कृत और समझदार हो चुकेगा। यह ठीक है, पर उद्देश्य तो यही है कि उसकी मदद की जाये और इस मंजिल की पूर्ति के लिए समाज को संगठित किया जाये। जब तक सरकार का रुख सदस्यों के विकास की दिशा से भिन्न होगा, तब तक किसी भी वास्तविक उन्नति की कल्पना नहीं की जा सकती।

ये सरल विचार और सामान्य तार्किक निर्णय, जो समस्त मानवीय समस्याओं का हल व्यक्ति द्वारा स्वीकार करते हैं और उसे एक सजग एवं मौलिक अंग स्वीकार करते है, फिर चाहे वह कारखाने से सम्बन्धित हो अथवा सरकारी कार्यालय से; यह सिद्धान्त जो यह मानता है कि प्रकृति में, विकास में, मनुष्य का ही महत्त्व है तथा सामाजिक घटनाएँ उसके मनोवैज्ञानिक विकास का फल है; यह विचार कि पूर्व व्यक्ति की आत्मा का विकास किये बिना कुछ भी स्थायी निर्माण सम्भव नहीं तथा उसके समस्त प्रयासों का उद्देश्य यही विकास होना चाहिए; ये विचार, जो विकासवाद की हेतु-संकल्पवादी मान्यता के तार्किक निष्कर्ष हैं, जिन्हें इस पुस्तक में विकसित किया गया—ये सभी निश्चय ही ईसाई नैतिकता की संपत्ति हैं। फिर भी वे अत्यन्त ईमानदार तथा उत्तरदायित्वपूर्ण नेताओं के मस्तिष्क में भी नहीं समा पाये हैं।

इस समय सभी शान्ति की कामना करते हैं। सभी सहमत हैं, कि यह बड़ी जटिल समस्या है और सभी पर हावी है। लेकिन हम केवल 'ऊपरी' समाधान सुनते हैं, जो केवल वातावरण को क्षुब्ध करता है, मस्तिष्क को नहीं।

लेखक इन तुरन्त के समाधानों में सन्देह नहीं कर सकता, पर भविष्य के लिए कुछ नहीं हो पा रहा है। हम सन्धियों, हस्ताक्षरों, समझौतों, बैठकों, अन्तर-राष्ट्रीय पुलिस तथा न्यायालय के बारे में तो सुनते हैं, पर इनके प्रति सन्मान, निष्पक्षता, आस्था आदि के बारे में नहीं, जिनके बिना इन सबका कोई मूल्य नहीं रहता। फिर भी हम जानते हैं, कि इनका मूल्य उन व्यक्तियों के नैतिक चरित्र से सम्बन्ध रखता है, जो उनकी रचना करते हैं और उनमें भाग लेते हैं। हम जानते हैं, इन सन्धिनामों की अवधि दस, बीस अथवा तीस वर्ष की होती है—देशों में, उनकी जनता के भाग्यों में। बड़े उत्साह से हस्ताक्षर होते हैं, कभी तो अस्थायी उत्तरदायित्व के रूप में और कभी उनका जीवन 'रद्दी कागज' तक ही रहता है।

जब तक राष्ट्रों में—नागरिकों में, सरकार में नहीं—संयुक्त उत्तरदायित्व की यह भावना नहीं पैदा होती, कि प्रतिनिधियों के बीच समझौते का उत्तरदायित्व सबों पर है, तब तक सधियों की यही दुर्दशा होती रहेगी, और आश्चर्य है कि इस पर भी लोग धोखा खा जाते हैं। फिर भी तमाशा चल रहा है। उक्त वर्णित महाशयगग बड़ी गंभीरता से सधि-पत्र तैयार करवाते हैं, उस पर हस्ताक्षर करते हैं, जिसे विश्वशान्ति का आश्वासन समझ लिया जाता है; लेकिन कब तक!

शान्ति की समस्या इतनी गम्भीर एवं जटिल है, कि उसे इन कृत्रिम तरीकों से नहीं हल किया जा सकता। इसका हल बच्चों के मस्तिष्क को सुव्यवस्थित रूप से सुधारने और वास्तविक नैतिक मूल्यों के ढाँचे द्वारा किया जा सकता है, जो वास्तविक चेतना के अभाव में मन्दगति से निर्मित होगी और कुछ करने को हेय बना देगी। यदि मानवीय सन्मान की भावना का विकास समान रूप से होता, तो वह स्वयं ही वचन के प्रति और सन्धिनामों के प्रति ईमानदारी का प्रतीक होती, जिसके फलस्वरूप सन्धि एवं समझौतों को वास्तविक मूल्य मिल जाता। जब प्रत्येक नागरिक सधि के प्रति अपने कर्त्तव्य को अनिवार्य समझेगा तभी शान्ति अनायास ही उत्पन्न होगी। इस बीच नैतिक शिक्षण की आवश्यकता तो है ही, जिससे कि लोग सन्धियों के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझें। इस प्रकार वह पृष्ठभूमि तैयार होगी जिसमें बीज बोये जा सकेंगे, जिनमें कोपलें ही नहीं फूटेंगी, बल्कि फल फूल भी लगेंगे। भविष्य के लिए इस चेतना के विपरीत किसी भी व्यक्तिगत चेतना के आरोपण का अन्त असफलता में होगा, समय को बरबाद करना होगा।

समस्त संसार इसके महत्त्व का अनुभव करता है, कि अधिकांश लोग

परस्पर एक-दूसरे का विश्वास करें। विचारों की जो एकता ईसाई धर्म की दस आज्ञाओं के अन्तर्गत पायी जाती है, वह अन्यत्र नहीं पायी जाती। लेकिन इसे बच्चों के मास्तिष्क में दृढ़तापूर्वक स्थापित करने का प्रयास नाममात्र को ही किया जाता है। शान्ति ही नहीं, न्याय, व्यापार, उद्योग, विज्ञान सभी में संतुलन विश्वास की एकता में है, मनुष्य के वचन में है। दस अथवा पन्द्रह वर्ष की अवधि में दिया गया समस्त नैतिक शिक्षण कुछ दिनों में और कुछ स्थितियों में तो कुछ घंटों में ही हो सकता है। बालकों के मस्तिष्क मे निरर्थक विवरण ठूस दिये जाते हैं और आवश्यक शिक्षा को बिना पढ़ाये छोड़ दिया जाता है। किसानो को बिना कृषि का ज्ञान कराये भी मेड़ो पर फूल उगाना सिखाया जा सकता है; अथवा नवयुवतियों को नहाना सिखाये बिना ही 'मेक-अप' करना सिखाया जा सकता है। परीक्षाओं का सम्बन्ध उन घटनाओं के ढेर से होता है, जिन्हें तीन महीनों के अन्दर भुला दिया जाता है; अथवा वे तथ्य केवल विषय विशेष के होते हैं। बच्चों को समाज में सभ्य व्यवहार करना सिखाना चाहिए। लेकिन इस बात को इस प्रार्थना की भाँति हर रोज दोहराने के अतिरिक्त अधिक महत्त्व नहीं कि—"प्रत्येक वचन पवित्र है, वचन के लिए कोई बाध्य नहीं, पर जो अपने वचन को तोड़ता है वह अक्षम्य अपराध करता है, वह धोखा देता है, वह स्वयं शर्म से डूब जाता है और अपने को मानव समाज से अलग कर लेता है।"

यह प्रार्थना ही नहीं, बल्कि धर्मसम्मत उपदेश है, जो स्वयं मानवीय सन्मान मे अपनी आस्था व्यक्त करता है, उससे भी अधिक ईश्वर में, जिससे इसे प्राप्त किया है।

निकट भविष्य में संसार सब प्रकार के परस्पर अविश्वासो से पीड़ित होगा। हम सब इसे अनुभव करते हैं, पर इस स्थिति को समाप्त करने अथवा रोकने के लिए क्या करते हैं? इसके लिए कोई चिन्तित भी नहीं। सरकारें सेना रखने और सब प्रकार की रक्षात्मक कार्यवाही करने के बारे मे सोचती हैं, जो केवल सन्देह को ही केन्द्रीभूत करता है। क्या हम प्रभावशाली व्यक्तियों को नहीं पा सकते, जो दूरदर्शी हों, जो वर्तमान पीड़ित मानव स्थिति से आगे देख सकें, जो दृढ़तापूर्वक भावी-निर्माण के पक्ष में हो, जो अन्ध-विश्वासों से परे हों और आत्मसम्मान की भावना से पूर्ण हों। क्या हम ऐसे नेताओं को नहीं पा सकते, जो आर्थिक पंच वार्षिक-योजना की अपेक्षा नैतिक विकास की अन्तर्राष्ट्रीय योजना की कल्पना करने की क्षमता रखते हों। यह कार्य अत्यन्त

श्रेष्ठ है, संभवतः हमारी दीन अभिलाषाओं से भी अधिक श्रेष्ठ है। समस्या का कम-से-कम अस्थायी हल शीघ्र ही आवश्यक है, जो सरल होगा, सन्देह-रहित एवं अल्पकालीन होगा। ईश्वर करे हम सत्य-पथ को समझते रहें। मानवता अभी तर्क एवं बुद्धि के युग तक नहीं पहुँच पायी है, उसके प्रयास अभी भी आदिम युग के अनुसार हैं।

पाठक गण विगत पंक्तियों में व्यक्त कटुता को विशेष महत्त्व न दें, इससे उनमें मानवता के उज्ज्वल भविष्य के प्रति आस्था अविचल न हो। इसके विपरीत उनमें अधिक दृढ़ता अपने उस कार्य को पूरा करने के लिए होनी चाहिए, जिसकी कि उनसे आशा की जाती है।

विकसित मानव, चेतना के विकास की उस स्थिति तक पहुँच चुका है, जहाँ कि उसका दृष्टिकोण विस्तृत हो सके और वह इस विकास में एक उत्तरदायी अभिनेता के रूप में अपना श्रेष्ठ अभिनय अदा कर सके। उस बहुदर्शी जीव के विपरीत, जो कि समुद्रीतल में अपना जीवन संघर्ष चलाता रहा, जो यह नहीं जानता कि वह मूंगे का निर्माण कर रहा है, जिस पर शताब्दियों बाद उच्च जीव-जाति निवास करेगी—मनुष्य यह जानता है कि वह आगामी पूर्ण मानव-जाति का अग्रदूत है। उसके ऊपर जो महानतम उत्तरदायित्व है इसका उसे अभिमान होना चाहिए, आनेवाली अस्थायी निराशा अथवा कठिनाई के भार से उसका अभिमान कहीं अधिक होना चाहिए। यदि अधिकाधिक लोग इसे समझें, कार्य करें, इसमें आनन्द लें, तो आध्यात्मिक आदर्श के पहुँचने के पूर्व ही दुनिया एक बेहतरीन दुनिया हो जायेगी।

प्रत्येक मनुष्य याद रखे कि मानवता की मंजिल अनुपम है और मनुष्य के सहयोग पर निर्भर करती है और यह कि संघर्ष के फल-स्वरूप भौतिक से आध्यात्मिक क्षेत्र में आने से कोई क्षति नहीं होती। मनुष्य यह भी स्मरण रखे कि मनुष्य का अपना सम्मान, श्रेष्ठता की उत्पत्ति अपने को बन्धनों से मुक्त करने में हो, अपने अन्तरतम की ध्वनि का अनुसरण करने में हो। वह न भूले कि ईश्वरीय ज्योति उसी में है, केवल उसी में और वह उससे विमुख होने के लिए, उसे नष्ट करने के लिए अथवा ईश्वर के समीप आने, उसके साथ उत्सुकतापूर्वक सहयोग करने के लिए स्वतंत्र है।

पारिभाषिक शब्द

अ

उपवृत-प्रतिबिम्ब Inverted image
हेत्वाभास न्याय Syllogism
अनिरंतरता Discontinuity
असंमिति Dissymetry
अणु Atom
अर्द्ध-व्यास Radius
अंकात्मक संकल्पवाद Static Determinism
अणुभार Molecular weight
अकस्मात् परिवर्तन Sudden mutation
अनुकूल बनना Adaptation
अनस्थिरता Fluctuation

आ

आवर्धन Magnification

ऊ

ऊर्जा Power

क

कारणवाद Causality

ग

गणना-प्रणाली Calculus

ज

जीव केन्द्र (प्राणिशास्त्र) Nucleus

त

ताप-अनुपात Entropy

द

दृश्यगत भावचित्र Visual impression
दृष्टिभ्रम Optical illusion
दृष्टिगत Sensorial

ध

धूमिल Amorphous

न

निर्देशन-व्यवस्था System of reference
निर्देशन-पद्धति Scale of observation

प

पदार्थ Matter
प्रकाश शिरायें Optical nerves
पथराई अस्थि Fossil
प्रायिकता Probability
प्राकृतिक चुनाव Natural selection
प्राकृत भाव Normality

भ

भाव स्थिरता Conditioned Reflex

र

रूपाधार Retina
रेडियो धर्मी Radio-active

व

वर्ण अन्ध Colour blind
विद्युत आवेश Electric Charge
विग्रह Disintegration

स

सयोग Chance
संघात Impact
संकल्पवादी Deterministic
समस्थानिक Isotopes

ह

हेमोग्लोबिन Hemoglobin
हेत्वात्मक Teleological
हेतुसंकल्पवाद Telefinality